A CRITICAL STUDY OF A. J. AYER'S THEORY OF KNOWLEDGE

THE THESIS

SUBMITTED TO THE UNIVERSITY OF ALLAHABAD FOR THE AWARD OF THE DEGREE OF DOCTOR OF PHILOSOPHY

Under the Supervison of
Prof. S. S. ROY

Submitted by
Rajnish Kumar Pandey
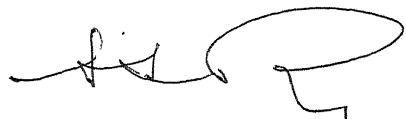
DEPARTMENT OF PHILOSOPHY
UNIVERSITY OF ALLAHABAD
ALLAHABAD (INDIA)-211002

1998

CERTIFICATE

This is to Certify that Sri. Rajnish Kumar Pandey S/o Sri. Ganesh Prasad Pandey a candidate for D. Phil Degree in Philosophy, has completed his work under my supervision. To the best of my knowledge and belief, the work done by him, in the accompanying thesis entitled, "A CRITICAL STUDY OF A. J. AYER'S THEORY OF KNOWLEDGE", which is submitting, are all his genuine and original work.

He has completed the requisite period for completion of the D. Phil work.

Dated : November 4, 1998

(Shiv Shanker Roy)
Prof. & Head (Retd.)
Department of Philosophy
University of Allahabad,
Allahabad

DEDICATED

TO

MY BELOVED GRANDFATHER

LATE Pt. MAHADEV PRASAD PANDEY

प्राक्कथन

'ज्ञान-मीमांसा' एक गहन विषय है । पाश्चात्य दार्शनिकों के मौलिक विचारों को हिन्दी भाषा के माध्यम से व्यक्त करना एक कठिन कार्य है । 'दर्शन शास्त्र' की परिभाषा चाहे जिस तरह से की जाय, परन्तु सामान्यतः इसके अन्तर्गत ज्ञान मीमांसा, तत्वमीमांसा, धर्म-दर्शन, मूल्य शास्त्र आदि विषयों का अध्ययन किया जाता है । पाश्चात्य दर्शन में 'ज्ञानमीमांसा' को दर्शन शास्त्र के सर्वाधिक प्रमुख एवं महत्वपूर्ण विषय के रूप में लिया जाता रहा है। यह भी कहा जा सकता है कि प्रायः दर्शन शास्त्र एवं 'ज्ञान मीमांसा' को एक दूसरे से अभिन्न समझा जाता रहा है । 'ज्ञान मीमांसा' शब्द से ही स्पष्ट है कि इसके अन्तर्गत ज्ञान-सम्बन्धी मीमांसा या विवेचना होगी । जब भी हम तत्व के संबंध में कुछ विवेचना कर लेते हैं, तो स्वाभाविक रूप से यह प्रश्न उठता है कि तत्व का ज्ञान हमें कैसे होता है । अन्य विषय अपनी उपलब्धियों को कुछ सत्यों के रूप में हमारे सामने सिर्फ रख भर देते हैं, छानबीन नहीं करते कि इन सत्यों का ज्ञान कैसे हुआ । दर्शन शास्त्र का यह स्वभाव है कि वह मौलिक और सूक्ष्म विवेचनों में प्रवेश करता है और किसी भी बात को मानकर नहीं चलता । इस सिलसिले में ज्ञान के स्वरूप, ज्ञान प्राप्ति के साधन, ज्ञान की सत्यता-असत्यता आदि से संबधित सारे प्रश्नों की विवेचना वह करता है ।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में हमारा सम्बन्ध दर्शन शास्त्र की परिधि में आने वाले अनेकों विषयों से न होकर सिर्फ 'ए.जे.एयर की ज्ञान मीमांसा' से ही है। प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध "ए क्रिटिकल स्टडी ऑव ए.जे. एयरस् थ्योरी ऑव नॉलेज" में प्रो. ए.जे. एयर की विचार धारा को सरल, सुसम्बद्ध वैज्ञानिक एवं प्रामाणिक ढंग से प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है । प्रत्येक दार्शनिक समस्या को उसके दार्शनिक परिप्रेक्ष्य में ही रखकर उसके समाधान की चेष्टा की गयी है । प्रो.ए.जे. एयर द्वारा प्रस्तुत विचारों के विवेचन में उनकी समानताओं और विभिन्नताओं पर विशेष बल दिया गया है । इस प्रकार दृष्टिकोण तुलनात्मक रखा गया है । साथ-साथ दर्शन के प्रमाणिक एवं

सर्वमान्य मापदण्डों के आधार पर विभिन्न सिद्धान्तों का खण्डन एवं मण्डन भी किया गया है । अतः, विवेचन आलोचनात्मक भी है ।

प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध में जो कुछ त्रुटियाँ हैं, वह मेरी हैं । पाश्चात्य दार्शनिक विचारों को हिन्दी भाषा में व्यक्त करना एक श्रम साध्य व्यापार है। कई वर्षों से इस विषय के सम्पर्क में रहने के कारण मैं इन कठिनाइयों को थोड़ा वहुत अवश्य जानता हूँ । मैंनें कोशिश की है कि वे कठिनाइयाँ न रहें, पर मैं कैसे जानूँ कि उन्हें दूर कर सका हूँ या नहीं ? भाषा का मैं महारथी नहीं, हाँ, वोलचाल लेता हूँ अवश्य । उसी भाषा में इस विषय को भी व्यक्त करने की मैंनें कोशिश की है ।

धन्यवाद देने की परिपाटी भी वहुत पुरानी है । प्रस्तुत शोध-प्रवन्ध पूर्ण करने में जिन लेखकों की रचनाओं से मुझे सहायता मिली है, उनका मैं कृतज्ञ हूँ । उनकी संख्या इतनी अधिक है कि प्रत्येक का नाम लेकर आभार व्यक्त करना संभव नहीं है ।

श्रद्धेय गुरूवर, *प्रो. डी.एन. द्विवेदी* जी (अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) ने समय-समय पर मुझे जो प्रोत्साहन दिया है वह मेरे लिए इतना मूल्यवान है कि आभार-प्रदर्शन द्वारा मैं उसे शब्दों की सीमा में वाँधना नहीं चाहता ।

अपने गुरूदेव, *प्रो. शिवशंकर राय* (पूर्व अध्यक्ष, दर्शन शास्त्र विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय) का मैं ऋणी हूँ, जिनके उचित एवं उत्कृष्ट निर्देशन के विना यह शोध कार्य अपूर्ण था ।

दर्शन शास्त्र विभाग के समस्त गुरूजनों विशेष रूप से *डॉ. नरेन्द्र सिंह, डॉ. (श्रीमती) मृदुला प्रकाश, डॉ. जटाशंकर* के प्रति विनम्रता के साथ आभार प्रकट करता हूँ जिनकी छत्र छाया एवं ज्ञान का प्रकाश मेरे लिए सदैव उपलब्ध रहा ।

आदरणीय *डॉ. हरिशंकर उपाध्याय* जी का मैं चिर ऋणी हूँ, उन्होंने न केवल मुझे प्रोत्साहित किया, वल्कि अपने सुलझे हुए विचारों से मुझे लाभान्वित भी किया है ।

परमपूज्य पिता *श्री गणेश प्रसाद पाण्डेय*, श्रद्धेय चाचा द्वय, *श्री तारा प्रसाद पाण्डेय* एवं *डॉ. टी.एन. पाण्डेय*, चाची *डॉ. (श्रीमती) राजकुमारी पाण्डेय* एवं अनुज *डॉ. पवन कुमार पाण्डेय* के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करने हेतु मेरे पास शब्द नहीं हैं । इन सबकी प्रेरणा ने ही मुझे शोध प्रबन्ध को पूर्ण करने हेतु प्रेरित किया । इन सभी की प्रेरणा एवं संबल ही मेरी शक्ति है ।

प्रिय, *पंकज कुमार पाण्डेय*, *विपुल धर द्विवेदी* ने शोध कार्य को पूर्ण करने में यथा संभव सहयोग किया । यदि मेरी शुभकामनाओं में थोड़ा भी बल है तो मैं इनके उज्जवल भविष्य की कामना करता हूँ ।

अपने सहयोगियों एवं मित्रों *डॉ. चन्द्रमौलि द्विवेदी, सुधीर कुमार श्रीवास्तव, डॉ. डी.एन. पाण्डेय, शशिकांत मिश्र, मनोज मिश्र, देवेश पाण्डेय, रमेंद्र मोहन मिश्र* एवं *विश्वामित्र पाण्डेय* के प्रति मैं आभारी हूँ, जिनसे समय-समय पर शोध संबंधी बहुमूल्य दिशा निर्देश प्राप्त होते रहे ।

अपनी सहधर्मिणी *श्रीमती रज्जू पाण्डेय* को धन्यवाद देता हूँ, जिनके सतत् सहयोग के बिना शोध प्रबन्ध पूर्ण नहीं हो सकता था ।

अन्त में मैं अपने शोध प्रबन्ध के टंकण के लिए *अनामी पाण्डेय* एवं *साकेत कुमार वर्मा* को धन्यवाद देता हूँ ।

दिनांक ४ नवम्बर, १९९८

रजनीश कुमार पाण्डेय
सीनियर रिसर्च फेलो
दर्शन शास्त्र विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद ।

विषय-सूची

अध्याय १

भूमिका

अध्याय २

अध्याय ३

अध्याय ४

अध्याय ५

अध्याय- 1

भूमिका

तार्किक भाववाद और ए. जे. एयर

ज्ञान मीमांसा का स्वरूप

ए. जे. एयर का प्रमाणीकरण सिद्धांत

तत्व मीमांसा विरोधी युक्तियाँ

तार्किक भाववाद और ए. जे. एयर

प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् समकालीन चिंतन के क्षेत्र में एक विशेष दार्शनिक विचारधारा का जन्म हुआ जिसे **तार्किक भाववाद या तार्किक प्रत्यक्षवाद** (LOGICAL POSITIVISM) की संज्ञा दी गयी। एक दार्शनिक विचारधारा के रूप में तार्किक भाववाद का इतिहास **वियना-मण्डल**[1] के इतिहास जुड़ा है। वियना आस्ट्रिया देश की राजधानी है। 1922 में मॉरिज श्लिक वियना विश्वविद्यालय में दर्शन-विभाग के अध्यक्ष नियुक्त हुए। उनकी प्रेरणा से वियना में एक दार्शनिक संस्था की स्थापना हुई जिसका नाम वियना-मण्डल रखा गया। इस दर्शन के निर्माण में ज्ञान-विज्ञान की विभिन्न विधाओं के विशेषज्ञों का योगदान है, किन्तु मुख्य योगदान दार्शनिक तथा गणितज्ञों का ही है। 1922 में **मॉरिज श्लिक** वियना में दर्शन के आचार्य के रूप में आते ही वियना सर्किल के केन्द्र में आ गये। इस मण्डल में दो प्रकार के सदस्य थे। प्रथम सरकार के सदस्य दार्शनिक तथा द्वितीय प्रकार के सदस्य वैज्ञानिक एवम् गणितज्ञ थे। प्रथम वर्ग में **मॉरिज श्लिक, रूडाल्फ कार्नेप, आटों न्यूराथ, हर्बर्ट फाइगल, फेरिक वैसमेन** इत्यादि दार्शनिक थे तथा दूसरे वर्ग में **फिलिप फ्रैंक, कार्ल मेंगर, कर्ट गोडेल** आदि वैज्ञानिक एवं गणितज्ञ थे। **लुडविंग विटगेन्सटाइन** इस सर्किल के सदस्य न होते हुए भी व्यक्तिगत स्तर पर प्रो. श्लिक से सम्बन्धित थे एवं उनके विचारों से यह सर्किल बहुत अधिक प्रभावित था। वियना-मण्डल की स्थापना के एक वर्ष पूर्व 1921 में विटगेन्सटाइन की सुप्रसिद्ध कृति **"ट्रैकटेटस-लॉजिको फिलासॉफिकस"** प्रकाशित हो चुकी थी,

---

1- **Moritz Schlick द्वारा स्थापित** (1924) **गोष्ठी जिसके अन्य प्रमुख सदस्य थेः** (**दार्शनिक में**) **Rudolf Carnap, Otto Neurath, Herbert Feigl, Friedrich Waismann, Victor Kraft; (तथा वैज्ञानिकों, गणितज्ञों में) Philipp Frank, Karl Manger, Kurt Godel, Hens Hahn etc.**

यह पुस्तक सर्किल के मौलिक विचारों को अभिव्यक्त करती थी ।[2] इस पुस्तक के अधिकांश विचारों एवं सिद्धान्तों को तार्किक भाववादियों ने स्वीकार कर लिया था । हम यह आधिकारिक रूप से नहीं कह सकते कि तार्किक भाववाद के मूल प्रेरणा-स्रोत विटगेन्सटाइन थे क्योंकि मॉरिज शिलक ने **'ट्रैक्टेटस'** के प्रकाशन कई वर्ष पूर्व 1918 ई. में अपनी ज्ञान-मीमांसा की पुस्तक प्रकाशित कर ली थी, जिसमें उन्होंने स्वतंत्र रूप से तार्किक भाववाद के मूलभूत सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था ।

इस सर्किल के सदस्य बहुत पहले से नियमित रूप से एकत्र होकर दार्शनिक समस्याओं पर विचार विमर्श करते रहते थे, किन्तु 1929 ई. में वियना-मण्डल ने अपने आपको एक दार्शनिक केन्द्र के रूप में पंजीकृत किया जिससे इसकी सक्रियता और बढ़ गयी। 1929 ई. में **ही प्राग** (PRAUGE) **में** एक 'कांग्रेस' की व्यवस्था की गयी जिसमें अन्य देशों के समर्थकों को आमंत्रित कर वियना-मण्डल ने अपना अर्न्तराष्ट्रीय अधिवेशन सम्पन्न किया । इस अधिवेशन में एक **'मैनिफस्टो दि साईटिफिक स्टैण्ड प्वांइट आफ विएना सर्किल'** निकाला गया । अपने पहले अन्तर्देशीय कांग्रेस आयोजन करने से इनका उत्साह और बढ़ा गया क्योंकि 1930 में एक पत्रिका **'अनालेन डेर फिलासफी'** जिसका बाद में **'एर्केन्टनिस'** (Erkenntnis) नाम रखा गया निकाली गयी । कारनेप तथा राइकनबाक के सम्पादन में इस पत्रिका का शुभारम्भ हुआ । **'यूनीफाइड साइंस'** नाम से अनेक कृतियाँ इन्हीं वर्षो में प्रकाशित हुई । इसके पूर्व वियना मण्डल ने **"दि साइण्टिफिक व्यू, द विएना सर्किल"** The Scientific world view : The Viena circle नाम से अपनी मूल पुस्तिका प्रकाशित की जिसमें अपने दार्शनिक विचारों की विशिष्टता का उल्लेख किया । अपने पहले अन्तर्देशीय कांग्रेस के आयोजन के फलस्वरूप इनका उत्साह और अधिक बढ़ गया

2- *The Revolution in Philosophy* . Ryle, G., P. 70

क्योंकि **बर्लिन, स्कैन्डिनेविया** आदि देशों के कुछ विचारकों का भी इन्हें सहयोग मिला इनमें वर्लिन स्कूल के **हंस राइचेनवाक रिचर्ग** Hans Richeubach (Richard Von Nices) **वान मिसज** तथा कैनडेनेविया के **जूरजन** (Joerjan) आदि प्रमुख थे । अमेरिका में चार्ल्स मोरिस, क्वाइन तथा इग्लैण्ड में स्टेविंग, ब्रेथ, एअर आदि भी समर्थक हुए । रूचिकर बात यह है कि इन सभी विचारकों का कुछ-न-कुछ योगदान इस विचार कों वढ़ानें में अवश्य रहा है ।

इस प्रकार 1930 के वाद इस विचार में तीव्र प्रगति होती गयी । किन्तु धीरे-धीरे इसके सदस्य अलग होते गये । कारनेप प्राग चले गये, 1934 में हान की मृत्यु हो गयी, 1936 में शिलक अपनें एक पागल विद्यार्थी के हाथों मारा गया। हिटलर की नाजी सरकार ने इन लोगों के आन्दोलन में राजनैतिक गंध पाया, जिसके फलस्वरूप इसके अधिकतर सदस्यों को देश छोड़कर भागना पड़ा । न्यूराथ जो हालैंड चले गये थे, इसे जीवित रखने का प्रयत्न करते रहे, तथा हेग से उन्होंने आर्केन्टर्नीस पत्रिका का नाम बदल कर उसे **'द जनरल आफ यूनीफाइड साइंस'** का नाम देकर प्रकाशित करने का प्रयास किया । कारनेप जो अमेरिका चले गये इसके सिद्धान्तों पर लिखते-सोचते रहे । फिर भी सदस्यों के अलग होने के कारण इसका प्रभाव टूटने लगा, तथा जिस तीव्रता से यह विचार अग्रसर हुआ था, उसी तीव्रता से यह धीमा होने लगा ।

वीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध के दूसरे भाग में तार्किक भाववाद का दर्शन वड़े प्रवल रूप में प्रभावशाली हुआ । यह कहना अनुपयुक्त नहीं होगा कि एक ढंग से इसने दार्शनिक चिन्तन के प्रचलित ढंग पर कुछ ऐसा तीव्र प्रहार किया कि इसके वाद दार्शनिक चिन्तन के ढंगों में सर्वथा नवीन परिवर्तन होते रहे ।

तार्किक भाववाद के दर्शन के विवरण में एक कठिनाई है । यह एक वैचारिक गति है जिसका प्रारम्भ एक वैचारिक आन्दोलन के रूप में हुआ । जिस आन्दोलन का जन्म कुछ लोगों के सम्मिलित प्रयास से हुआ, तथा इसके विकास में भी अनेक लोगों का भी योगदान रहा । प्रारम्भ में इन लोगों को कुछ ऐसा लगा कि वे जो कुछ कह रहे हैं, वह इतना सरल और स्पष्ट है कि उनके अवबोध में कोई कठिनाइयाँ उपस्थित हो ही नहीं सकतीं, किन्तु शीघ्र ही ऐसी-ऐसी वैचारिक कठिनाइयाँ उत्पन्न होने लगीं कि इनके समर्थकों में भिन्न-भिन्न लोग भिन्न-भिन्न कठिनाइयों से जूझने लगे । और यही इस विचार के सरल प्रस्तुतीकरण की मूल कठिनाई है । किसी एक विचार को स्पष्ट करने में कई विचारकों का हवाला अनिवार्य हो जाता है इन विचारकों में लक्ष्य एवं सामान्य विधि की समानता अवश्य है, किन्तु विशुद्धीकरण में सब अपने-अपने ढंग से अग्रसर होते हैं । सबों का समवेत स्वर, सामान्य दृष्टि, सामान्य लक्ष्य स्पष्ट करने में किन विचारकों के विचार को साक्ष्य के रूप में प्रस्तुत किया जाय । यह कठिनाई शोधपत्र के अपने स्थान की सीमा के कारण और बढ़ जाती है । अतः हम सामान्य लक्ष्य तथा सामान्य विधि को ध्यान में रखते हुए इसके सामान्य विचारों को संगठित करने का प्रयास करेगें तथा, प्रसंगानुसार अलग-अलग विचारकों के विचारों का विवरण देते चलेंगे । किन्तु यह सामान्य विवरण दो मूल खण्डों में प्रस्तुत करेगें - एक तो इसके यूरोपीय रूप में, जिस रूप में इसका उद्भव हुआ तथा जिस रूप में इसे 'तार्किक भाववाद' की संज्ञा मिली, तथा दूसरे इसके एक प्रबल रूप में जो ब्रिटिश दर्शन में उजागर हुआ तथा जिसे **एयर** (AYER) ने तार्किक अनुभववाद के नाम से प्रतिष्ठित किया।

पहले हम इस नाम की ही विशिष्टता को समझ लें । वैसे इस विचार के लिए **तार्किक भाववाद** तथा **तार्किक अनुभववाद** के अतिरिक्त **वैज्ञानिक अनुभववाद** का नाम भी प्रचलित हुआ है । किन्तु **चलन** तार्किक

भाववाद का ही है, केवल ब्रिटेन जैसे अनुभववादी परम्परा के विचारकों ने इसे तार्किक अनुभववाद कहना ठीक समझा ।[3]

यह **भाववाद** (POSITIVISM) है, तथा इसका **भाववाद, तार्किक** (LOGICAL) हैं । अब प्रश्न यह उठता है कि भाववाद क्या है ? **भाववादी दृष्टि एक ऐसी दृष्टि है जो** विचारकों आनुभविक तथ्यों के क्षेत्र तक सीमित रखना चाहती है, अनुभवातीत अथवा काल्पनिक उड़ानों का सहारा नहीं लेने देती। इस प्रकार के दर्शन की स्थापना **अगस्त कौम्टे** (AUGUSTE COMTE) ने की थी । उन्होंने दार्शनिक चिन्तन को वैज्ञानिक रूप देने की चेष्टा में दर्शन को आनुभविक तथ्यों तथा वैज्ञानिक विधि पर आधृत रखने की अनुशंसा की । कुछ उसी प्रकार की भाववादी दृष्टि तार्किक भाववाद ने भी अपनायी है, उसकी भी मान्यता है कि विचार को तथ्यों पर आधृत होना चाहिए । तथ्यों का ज्ञान मात्र विज्ञान के द्वारा ही सम्भव है, अत तार्किक भाववाद की मान्यता है कि दार्शनिक चिन्तन को विज्ञान के सबल आधार पर खड़ा होना चाहिए । दर्शन जो विश्व की समग्रता का चित्र खींचने का प्रयत्न करता रहा है, वह निरर्थक है, क्योंकि ऐसा कोई प्रयत्न अनुभव एवं विज्ञान पर आधृत नहीं है ।

अपने इस भाववाद को इन लोगों ने तार्किक कहा है क्योंकि जिस ढंग अथवा विधि से इस भाववाद को सवाँरा गया है वह विधि तार्किक है । इनकी मान्यता है कि इस भाववाद को स्थापित करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि अनुभव एवं विज्ञान ही इनके पक्ष में साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं । अतः अनुभव एवं विज्ञान पर आश्रित है । तार्किक भाववादी भी वैज्ञानिक कथनों को ही मूल मानते हैं, किन्तु वे कथन प्रायः अस्पष्ट तथा अनेकार्थक होते हैं । अत उनका सही अर्थ-निरूपण अनिवार्य है, और यह कार्य दर्शन कर सकता है क्योंकि दर्शन के पास इस कार्य को सम्पन्न करने के लिए

3- The Encyclopedia of Philosophy. Paul. Edward (Ed.). Part V. P. 52

तार्किक विधियाँ हैं अत तार्किक विधियाँ भाववादी **तार्किक विश्लेषण** तथा **तार्किक संरचना** की विधि को अपना कर उसी के माध्यम से भाववादी निष्कर्ष को बढ़ाते हैं । इसी कारण इनका भाववाद तार्किक है ।

कुछ अन्य लोगों ने भी इस प्रकार के विचार को आगे बढ़ाया है, किन्तु वे अपने विचार को तार्किक अनुभववाद के नाम से पुकारते हैं । इनमें ब्रिटिश दार्शनिक **ए.जे. एयर** प्रमुख हैं । एक तो यह बात है कि इंग्लैण्ड की दार्शनिक परम्परा ही अनुभवादी है जिसके फलस्वरूप कोई अंग्रेज दार्शनिक, चाहे वह प्रत्ययवादी हो या वास्तववादी, चाहे वह तत्व-दार्शनिक हो या भाषा दार्शनिक, **'अनुभव'** को केन्द्रीय बना ही लेता है । किन्तु यह अनुभववाद पारम्परिक अनुभववाद से भिन्न है । लॉक, बर्कले, ह्यूम जैसे पारम्परिक अनुभववादी जब अनुभव का विश्लेषण करते है, तो यह विश्लेषण किसी न किसी रूप में मनोवैज्ञानिक ही होता है, किन्तु एयर जैसे तार्किक अनुभववादी अनुभव का तार्किक विश्लेषण करते हैं । यहाँ तार्किक विश्लेषण एक प्रकार से भाषा विश्लेषण है, वह भी भाषा विश्लेषण का वह रूप जो मूर, रसेल प्रराम्भिक विटगेन्स्टीन तथा कुछ यूरोपीय दार्शनिकों के विश्लेषण में उपलब्ध है । इस प्रकार के विश्लेषण का अन्तिम आधार कुछ मूल अनुभव बिन्दु ही है, चाहे वह साक्षात् अनुभव में प्राप्त अणुवाक्य हों, अथवा सामान्य ज्ञान के अनुरूप उपलब्ध कुछ आनुभविक वाक्य । इसी कारण यह अनुभववाद तार्किक है ।

इस शिथिलता का एक वैचारिक कारण भी था । जैसा कि हमने प्रारम्भ में ही देखा है, इस विचार के उत्पन्न होने का मूल कारण यह था कि लोग दर्शन के प्रचलित ढंग से क्षुब्ध थे । इन लोगों को यह विश्वास था कि प्रचलित तात्विक दर्शन (Metaphysics) ज्ञान के नाम पर अयथार्थ एवं काल्पनिक बातों का अम्बार लगा देता है । ये सभी भाववादी विचार विज्ञान से प्रभावित थे, तथा मानते थे कि वास्तविक ज्ञान मात्र विज्ञान ही

दे सकता है । अतः तार्किक भाववाद का दो लक्ष्य बन गया था, एक **निषेधात्मक** दूसरा **भावात्मक** । निषेधात्मक कार्य यह था कि तत्व का खण्डन / निरसन किया जाय । इन लोगों ने इस उद्देश्य की पूर्ति यह दिखला कर करना चाहा कि तात्विक सत्ता; सम्बन्धी सभी कथन (Metaphysical Statements) अर्थहीन हैं । इस बात को स्थापित करने के लिए उन्होने एक अर्थ सिद्धान्त (Theory of Meaning) प्रतिपादित किया जो अर्थ के सत्यापन सिद्धान्त (Verificational theory of Meaning) के नाम से विख्यात हुआ । अपने भावनात्मक उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि यथार्थ ज्ञान विज्ञान (Science) में ही उपलब्ध है, तो दर्शन को इसे स्वीकार कर ही अग्रसर होना अनिवार्य है । अतः इनके अनुसार दर्शन का मूल कार्य विज्ञान के कथनों में निहित अस्पष्टता, अनेकार्थकता एवं व्यामिश्र को दूर करना है। इस कार्य के लिए इन लोगों ने तार्किक भाषा-विश्लेषण (Logical Analysis of Language) का ढंग निकाला ।

अब इन दोनों ढ़गों में कुछ ऐसी नवीनता थी कि विचारकों का ध्यान इस सिद्धान्तों पर स्वभावतः आकृष्ट हुआ । प्रथमतः जो इनका सत्यापन अर्थ सिद्धान्त था, उसी की आलोचना आरम्भ हो गयी । यह कहना गलत नहीं है कि 'तार्किक भाववाद' के ऐतिहासिक विकास का एक माध्यम इस प्रकार की आलोचनाएं भी हैं। पहले-पहले इस सिद्धान्त का बड़ा सरल रूप प्रतिपादित हुआ, उसकी आलोचना हुई। इसके समर्थकों ने उन आलोचनाओं के आलोक में इस सिद्धान्त के जो प्रतिपादित रूप थे उनमें परिवर्तन करना आरम्भ कर दिया । आलोचनायें होती गयीं जिसके फलस्वरूप इस सिद्धान्त में और परिवर्तन करना अनिवार्य समझा गया । आलोचना होते-होते उनका यह सत्यापन अर्थ सिद्धान्त दोष ग्रस्त सिद्ध होने लगा । यह उनका केन्द्रीय सिद्धान्त था, इसी सिद्धान्त के आधार पर वे तात्विक उक्तियों को निरर्थक

सिद्ध कर रहे थे । किन्तु जब उनका केन्द्रीय स्तम्भ ही कमजोर पड़ने लगा, तो उनके विचार की उग्रता और तेजी शिथिल होने लगी ।

कुछ ऐसी ही **भावात्मक योजना** के साथ भी हुआ । उन्होंने वैज्ञानिक उक्तियों की अस्पष्टता एवं अनेकार्थता को दूर करने के प्रयास में एक **तार्किक विश्लेषण** की विधि को रूप दिया । किन्तु, यह विधि भी कुछ पूर्वमान्यताओं से ग्रसित रही, तथा इसकी कुछ मांगे इतनी कड़ी बन गयीं थी यह विधि पूर्णतया आकारिक (Formal) विधि बनती गयी । फलत उसके विरूद्ध भी प्रतिक्रिया हुई । इस विधि को प्रतिपादित करने वालों को ही ऐसा प्रतीत होने लगा कि यह विधि भाषा विश्लेषण का दावा तो करती है, किन्तु भाषीय अभिव्यक्तियों के सभी ढंगों का विश्लेपण नहीं कर सकती। इस विश्लेषण की मांगे कुछ इतनी कड़ी हैं कि इस प्रकार का विश्लेषण पूर्णतया नियमनिष्ट औपचारिक विश्लेषण (Formal Analysis) हो जाता है। किन्तु इन लोगों को प्रतीत होने लगा कि भाषीय आभिव्यक्तियां इतने विविध प्रकार की हैं कि उनका विश्लेषण अनौपचारिक होना चाहिए । फलतः अनौपचारिक विश्लेषण के नये प्रभावशाली ढंग स्पष्ट होने लगे तथा तार्किक भाववादी योजना शिथिल पड़ने लगी ।

किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि तार्किक भाववाद का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। नही, इसके विपरीत इस वैचारिक आंदोलन का प्रभाव स्पष्ट है। दार्शनिक चिंतन की प्रगति में जब जब ठहराव आने लगता है, अथवा जब-जब यह आवश्यकता से अधिक अमूर्त, अवास्तविक और काल्पनिक होने लगता है, तब-तब उसकी सार्थकता और प्रासंगिकता का प्रश्न उठ खड़ा होता है । उस समय कोई मौलिक ढंग से नवीन विचारधारा दार्शनिक चिंतन के प्रचलित ढंग को झटका दे ही देती है, तथा उसे सजग कर नये ढंग से सार्थक तथा प्रासंगिक बनाने का प्रयास करती है । उस समय का यह प्रयास भले ही बहुत दिन जीवित न रहे, किन्तु उसकी सार्थकता

दार्शनिक चिंतन को झकझोर देने में है । उस सजगता में दार्शनिक चिंतन, चिंतन की नई दिशायें एवं विचार के नये आयाम ढूँढ़ लेता है । इस दृष्टि मे **'तार्किक भाववाद'** का दार्शनिक चिन्तन की प्रगति में अतुल्य योगदान है । इस झकझोर के फलस्वरूप समकालीन पाश्चात्य दर्शन सर्वथा नये-नये रूपों निखरने लगा । यही **'तार्किक भाववाद'** का ऐतिहासिक महत्व है ।

अत: इस विचारधारा के मूल पहलुओं की संक्षिप्त जानकारी अनिवार्य है। इसे हम मूलतः दो खण्डों में देखेंगे । एक तो **तार्किक भाववाद** के अर्न्तगत तथा दूसरा **तार्किक अनुभववाद** के अर्न्तगत । दोनों दो विचार नहीं, दोनों में सामान्य वातों में पूर्ण मतैक्य है । अन्तर यही है कि पहले के अर्न्तगत उन विचारों को स्पष्ट किया जायगा जो 'वियना मण्डल' में उभरे तथा मूलतः उस मण्डल के सदस्यों के द्वारा सँवारे गये । दूसरे में हम इस विचारधारा के ब्रिटिश रूप का विवेचन करेंगे, जहाँ अपनी परम्परा के अनुरूप इसे 'तार्किक भाववाद' कहा गया । इसमें हम एयर के विचारों का उल्लेख करेंगे । दोनों खण्डों में अन्तर 'भाववाद' तथा 'अनुभववाद' के नामों के अनुरूप स्पष्ट होगा, किन्तु मूलतः सामान्य वातों में दोनों विचार एक जैसे हैं । इन दोनों खण्डों में हम तीन-तीन विषयों का विवरण प्रस्तुत करेंगे (क) इनका अर्थ-सिद्धान्त (ख) इनके द्वारा तत्वमीमांसा का खण्डन, तथा (ग) इनके अनुसार दर्शन का कार्य एवं लक्ष्य । पहले हम 'वियना सर्किल' के सदस्यों पर केन्द्रित तार्किक भाववाद के अन्तर्गत इन तीनों खण्डों का विवेचन करें ।

'वियना सर्किल' में विकसित तार्किक भाववाद

(1) **अर्थ सिद्धान्त** (Theory of Meaning) हमने देखा है कि तार्किक भाववादी विज्ञान से वड़े प्रभावित हैं । उनकी यह मान्यता है कि विज्ञान से ही ज्ञान मिलता है, जानकारी मिलती हैं । अतः उनके विचार में वही श्रोत जानकारी देने का अधिकारी है जो वैज्ञानिक ढंग से जानकारी दे

सके । विज्ञान की नींव निरीक्षण-प्रयोग आदि पर आधृत है, अतः वही वाक्य ज्ञानात्मक कहा जा सकता है, जिसका आधार निरीक्षण या अनुभव हो। इसी दृष्टि से उन्होंने अर्थ का एक सिद्धान्त प्रतिपादित किया जिसे अर्थ का सत्यापन सिद्धान्त कहा जाता है ।

(क) ट्रैक्टेट्स का प्रभाव - इस सिद्धान्त को विकसित करने के प्रयत्न में वे विटगेन्स्टीन के ट्रैक्टेट्स में निरूपित विचारों से प्रभावित जान पड़ते हैं वैसे विटगेन्स्टीन ने अपने को इनके साथ कभी नहीं जोड़ा, किन्तु इन लोगों ने उनका हवाला दिया है । अतः पहले हम विटगेन्स्टीन के विचार के उस अंग का संक्षिप्त विवरण करेंगे जिसका इनके सत्यापन सिद्धान्त पर प्रभाव है ।

विटगेन्स्टीन के अनुसार भाषा सूचनात्मक अर्थ में ज्ञान तभी दे सकती है, जब उससे किसी-न-किसी रूप में तथ्यों (Facts) का अथवा वस्तुस्थिति (State of affairs) की जानकारी मिले । किन्तु स्पष्ट है कि हमारी सामान्य-साधारण भाषा जिससे हम सूचना देते या पाते हैं, इस प्रकार सरल रूप में किसी वस्तुस्थिति का निर्देश नहीं करती । विटगेन्स्टीन का कहना है कि यदि भाषा ज्ञानात्मक होने का दावा सही है, तो उसका विश्लेषण किया जा सकता है, जिसे विश्लेषण के फलस्वरूप अन्ततः एक प्राथमिक वाक्य मिलेगा, जो रसेल के अणुवाक्य जैसा है, जिससे वस्तुस्थिति का निर्देश होगा। विटगेन्स्टीन ऐसे वाक्यों प्राथमिक वाक्य (Elementary Proposition) कहते हैं ।[4] उनका कहना है कि वे पूर्णतया सरल तथ्यों के अनुरूप है, अतः उनसे सरल तथ्यों की जानकारी होती है । जो ज्ञानसूचक भाषा है, वह अन्ततः ऐसे ही प्राथमिक वाक्यों से निर्मित है । इस प्रकार मिश्रित वाक्यों की सत्यता-असत्यता इन्हीं वाक्यों की सत्यता-असत्यता पर निर्भर है। और

---

4 Wittgenstein. Ludwig. *Tractatus*. 1961. P. 31

इनकी सत्यता-असत्यता का मापदण्ड इनका सरल तथ्यों अथवा वस्तुस्थिति के अनुरूप होने में है ।[5]

इस प्रकार के सभी-वाक्यों के साथ यह होना ही है कि वे कुछ वस्तुस्थिति के अनुरूप होंगे, तथा कुछ वस्तुस्थिति से असंगत होंगे । वस्तुस्थिति की अनुरूपता से उनकी सत्यता निर्धारित होती है तथा वस्तुस्थिति से असंगत होने से उनकी असत्यता स्पष्ट होती है । वैसे विटगेन्स्टीन इस संदर्भ में दो चरम उदाहरण की बात भी करते हैं, एक तो वह स्थिति होगी जहाँ वाक्य सभी सम्भव वस्तुस्थिति से संगत हो, तथा दूसरा वह जहाँ वाक्य किसी वस्तुस्थिति से संगत न हो । विटगेन्स्टीन पहले प्रकार के वाक्य को **पुनरूक्ति (Tautology)** कहते हैं, तथा दूसरे प्रकार के वाक्य को **व्याघात** (Contradicition) कहते हैं । रूचिकर बात यह है कि इन दोनों में से कोई विश्व के विषय में या तथ्यों के विषय में कोई जानकारी नहीं देता । पुनरूक्ति हर प्रकार की वस्तुस्थिति के लिए सत्य है, अतः किसी विशेष वस्तुस्थिति का ज्ञान नहीं दे सकते, व्याघात किसी वस्तुस्थिति के अनुरूप नहीं है, अतः वे किसी वस्तुस्थिति की कोई जानकारी नहीं दे सकते । तो, विटगेन्स्टीन के अनुसार वैसे ही वाक्यों से जानकारी मिल सकती है जो या तो स्वयं प्राथमिक वाक्य हों या ऐसे वाक्य हों जिनकी सत्यता-असत्यता उन प्राथमिक वाक्यों पर निर्भर हो जिनसे वे निर्मित हों । अतः उनके अनुसार प्राथमिक वाक्य ही मूल हैं जिनके बल पर जानकारी अथवा सूचनात्मक ज्ञान मिलता है और उनकी इस क्षमता का आधार मात्र यही है कि वे वस्तुस्थिति को चित्रित करने समर्थ हैं ।

इस विचार से अर्थ का एक मापदण्ड निकल आता है । स्पष्ट है कि इन वाक्यों के सत्य-असत्य होने का आधार अनुभव पर चला आता है । यदि कोई वाक्य किसी वस्तुस्थिति को चित्रित नहीं करता, यदि किसी वाक्य

---

5 Lazerowitz M., *The Structure of Metaphysics*, London Routledge Kegan Paul, 1955

का कोई तथ्यात्मक आधार नहीं है, यदि वह कोई तथ्य सूचित नहीं करता तो वह वस्तुतः वाक्य है ही नहीं वाक्य जैसा दीखने वाला छद्म वाक्य (Pseudo Proposition) है ।

तार्किक भाववादी-विटगेन्स्टीन के इस प्रारम्भिक विचार से बड़े प्रभावित हुए, फलतः उन्होंने यह सोचा कि वाक्यों की सार्थकता उनके अनुभव-आश्रित होने में है। यदि वही वाक्य है, जो किसी तथ्य या वस्तुस्थिति का निर्देश करे, तो **आनुभविक तथ्यों के अनुरूप होना,** वाक्यों की अर्थपूर्णता का मापदण्ड बन जाता है । इसी विचार को तार्किक भाववाद ने आगे बढ़ाया तथा उसे अर्थ के सत्यापन-सिद्धान्त का रूप दिया । अब हम तार्किक भाववाद के अर्थ-सिद्धांत का विवेचन करेंगे ।

(ख) श्लिक का प्रारम्भिक मत - विभिन्न तार्किक भाववादी विचारकों ने इस सिद्धान्त पर बड़ा विशद् चिन्तन किया है । उन सभी विचारों का पूर्ण परिचय तो सम्भव नहीं है । हम मॉरिस श्लिक के विचारों की मूल बातों का उल्लेख कर यह दिखायेंगे कि कैसे-कैसे इस सिद्धान्त में परिवर्तन होता रहा है । बात यह है कि इस सिद्धान्त के प्रथम प्रतिपादन से ही इसके विरूद्ध आपत्तियाँ उठती रहीं, तथा इसके समर्थक उन आपत्तियों के आलोक में इसमें परिवर्तन करते रहे । फलतः यह सिद्धान्त विभिन्न रूपों में परिवर्तित होता हुआ विकसित हुआ है । इसके विकास का विवरण भी अनिवार्य ही है ।

श्लिक का कहना है कि हम जब भी यह पूछते हैं कि **'इसका अर्थ क्या है ?'**, तो हम यही आशा रखते हैं कि हमारे समक्ष उन स्थितियों का विवरण प्रस्तुत होगा जिन स्थितियों में वह वाक्य सत्य होगा, अथवा जिन स्थितियों में वह वाक्य असत्य होगा । दूसरे शब्दों में यही कहा जा सकता है कि किसी भी कथन के अर्थ बताने का मात्र एक ही ढंग सम्भव

है, तथा वह है कि उन तथ्यों का विवरण कर दिया जाय जिनका होना उस कथन के सत्य के लिए अनिवार्य है ।[7] इसे एक अन्य रूप में अधिक स्पष्ट किया जा सकता है । हम किसी वाक्य का अर्थ कैसे समझते हैं ? कहा जा सकता है कि यह सम्भव होता है जब उस वाक्य में व्यवहृत शब्दों का अर्थ समझें । शब्दों का अर्थ तो शब्दों को परिभाषित करके स्पष्ट किया जाता है । किन्तु, हर परिभाषा में नये-नये शब्दों का व्यवहार होता है? उनका अर्थ कैसे स्पष्ट होगा ? पुनः दूसरी परिभाषा देनी होगी । किन्तु परिभाषा देने का सिलसिला कैसे रूकेगा ? वह सिलसिला तभी रूकेगा जब अन्ततः शब्दों के अर्थ को दिखाया जा सके । अतः अन्ततः हमें शब्दोंके अर्थ का निर्देश करना पड़ता है, अर्थ तभी स्पष्ट होता है जब किसी आनुभविक तथ्य की ओर संकेत हो सके ।

इस विवेचन का सारांश सरल एवं स्पष्ट है- हम किसी भी वाक्य को अर्थपूर्ण तभी कह सकते है जब उसके सत्य या असत्य होने पर जो अन्तर पड़े, उस अन्तर की आनुभविक परीक्षा हो सके जो, श्लिक की भाषा में परीक्षणीय भेद (Verifiable difference) उत्पन्न कर सकें । परीक्षणीय भेद तभी सम्भव है, जब वह भेद अनुभव में दिखाई दे- जिस भेद का आनुभविक निर्देश हो सके, क्योंकि परीक्षणीय वही होता है जो अनुभव-प्रदत्त हो अतः श्लिक का अर्थ का एक सरल मापदण्ड पा लेते हैं। किसी वाक्य के अर्थ बताने का अर्थ बस यह है कि **उन ढंगों को बता दिया जाय जिससे इसका सत्यापन-असत्यापन हो सके ।** इसी कारण श्लिक कहते है कि किसी वाक्य का अर्थ सत्यापन की विधि है । (The meaning of a propsition is the method of its Verification)

7- **इस बात को स्पष्ट करते हुए श्लिक कहते हैं,** Whenever we ask about a sentence 'what does it 'mean' what we expect is instruction as to the circumstances in which the sentence is to be used we want a description of the conditions under which the sentence will form a true proposition and to those which will make it false"

श्लिक का दावा है कि उनका यह मत (अपने इस मत को वे सिद्धान्त कहना पसन्द नहीं करते) विज्ञान तथा सामान्य ज्ञान (Science and Common-Sense) दोनों के अनुरूप है । उनका यह भी दावा है कि वस्तुतः व्यवहार में सदा से इस मापदण्ड का उपयोग होता रहा है, केवल इसे स्पष्ट वैचारिक मान्यता नहीं मिली। तार्किक भाववाद ने इसे मान्यता देकर दर्शनशस्त्र में इसे प्रतिष्ठित किया है ।

(ग) कारनैप का मत - कारनैप ने इसी प्रकार के मत को दूसरे रूप में स्पष्ट किया है । उनका कहना है कि किसी भी वाक्य के दो अंश होते हैं- **शब्द-भंडार (Vocabulary) तथा वाक्य-विन्यास (Syntax)** । शब्द-भंडार का अर्थ है ऐसे शब्दों का समूह जिनका अर्थ हो, तथा वाक्य-विन्यास से उनका तात्पर्य उन नियमों से है जिनके आधार पर वाक्य निर्मित होते हैं ।[8]

वाक्य अर्थहीन दो प्रकार से हो जाते हैं, एक तो तब जब कि शब्दों से ही कोई अर्थ सूचित न हो, तथा दूसरा तब जब कि शब्दों के अर्थपूर्ण रहते हुए भी वाक्यों के निर्माण में वाक्य-विन्यास के नियमों का उल्लंघन हुआ है। 'वह बन्ध्या-पुत्र है'- यह पहले प्रकार का निरर्थक वाक्य है, क्योंकि इसमें 'बन्ध्या-पुत्र' शब्द से ही कोई अर्थ सूचित नहीं होता। 'ईमानदारी गेंद खेलती है'- यह दूसरा प्रकार का निरर्थक वाक्य है क्योंकि यहाँ सभी शब्दों (ईमानदारी, गेंद, खेलना) से अर्थ सूचित होते हुए भी वाक्य-निर्माण के नियम का उल्लंघन हुआ है, क्योंकि इन शब्दों को वाक्य-विन्यास के नियम के अनुसार जोड़ा नहीं गया है।

कारनैप इन वाक्यों की निरर्थकता का विश्लेषण करते हुए वाक्यों के अर्थ-निर्धारण का एक आधार दे देते हैं जो पुनः परीक्षणीयता (**Verification**) अथवा सत्यापन का ही आधार बन जाता है। उनका

8- Carnap, R., Logical *Syntax of Language* New York : Hartcourt, Brace, 1937.

कहना है कि अर्थपूर्ण भाषा अर्थपूर्ण इसी कारण है कि उसके आधार कुछ ऐसे **निरीक्षण-वाक्य (Observation)** अथवा **स्वानुभवमूलक वाक्य (Protocol statement)** हैं जो कि उसके सत्यापन के आधार हैं। उदाहरणतः हम उन्हीं के द्वारा दिया गया उदाहरण लें, 'मानव-सदृश्य सभी जीव (**anthropodes**) ऐसे जीव होते हैं जिसके खण्डयुक्त अवयव होते हैं तथा जोड़वाले पैर होते हैं'। कारनैप के अनुसार इस वाक्य की सार्थकता उन स्वानुभवमूलक वाक्यों पर निर्भर है जिनका स्पष्ट आनुभविक निर्देश है, जैसे 'वह एक जीव है 'उसके अवयव खण्डयुक्त हैं, उसका पैर जोड़ वाला है'; इन सभी वाक्यों का आनुभविक आधार है, तथा इन्हीं के आधार पर पूरे वाक्य की सार्थकता निर्भर करती है, अतः कहा जा सकता है कि वही जिसकी सार्थकता का आधार स्वानुभवमूलक वाक्य है। आश्रय वाक्य सार्थक है अर्थात् यहाँ भी यही निष्कर्ष निकल आता है कि वाक्यों की सार्थकता अन्ततः अनुभव-परीक्षण अथवा अनुभव वाक्यों (**Protocol Sentences**) का उल्लेख किया है। उनके अनुसार इस वाक्य में एक व्यक्तिवाचक संज्ञा होती है जो अन्य पदों से सम्बन्धित होती हैं, तथा इससे कुछ तथ्यात्मक संदेश मिलता है- कुछ ऐसी सूचनाएं मिलती हैं जो सरल रूप में घटित होती हैं। यह वाक्य उन्हीं अनुभवों की सूचना है। जो भाषा अन्ततः ऐसे स्वानुभवमूलक वाक्यों पर आधृत नहीं है, उनकी सार्थकता स्पष्ट नहीं हो सकती। अतः न्यूराथ भी उसी प्रकार के निष्कर्ष पर पहुंचते हैं जिस पर कारनैप पहुंचते हैं।

(घ) सत्यापन सिद्धान्त में परिवर्तन - अर्थ के सत्यापन सिद्धान्त के इस प्रतिपादन के विरूद्ध इतनी आपत्तियाँ उठायी गयी कि इसके समर्थकों को लगातार कुछ स्पष्टीकरण करना पड़ा तथा उसके परिणाम स्वरूप इसके प्रारम्भिक रूप में कुछ परिवर्तन भी करना पड़ा। हम ऐसे यहाँ **दो प्रमुख परिवर्तनों** का उल्लेख करेंगें ।

सबसे पहले प्रश्न तो यह उठता है कि **सत्यापन अथवा परीक्षणीयता से तार्किक भाववाद का क्या तात्पर्य है?** क्या इससे वे वास्तविक परीक्षणीयता समझते हैं? यदि वाक्यों की अर्थपूर्णता अनुभव-परीक्षा पर आश्रित है, तो क्या उनका तात्पर्य यह है कि कोई वाक्य तब तक अर्थपूर्ण नहीं हो सकता जब तक उनसे सूचित स्थितियों का वास्तविक अनुभव न हो जाय? यदि सत्यापन का यह अर्थ लिया जाय तो कठिनाइयाँ उत्पन्न होती हैं। बहुत से ऐसे वाक्य हैं जिनकी वास्तविक अनुभव-परीक्षा सम्भव नहीं है यदि इसे ही अर्थपूर्णता का आधार माना जाय तो इतिहास के सभी वाक्य अर्थहीन हो जायेगें क्योंकि उनसे सूचित होने वाली घटनाओं की वास्तविक अनुभव-परीक्षा सम्भव नहीं है। उनके सामने यह उदाहरण उपस्थित होता है, "चन्द्रमा के दूसरे ओर एक पर्वत श्रृंखला है।" इस वाक्य की वास्तविक अनुभव-परीक्षा सम्भव नहीं है (उस समय चन्द्रमा पर पहुंचने के अभियान का प्रारम्भ भी नहीं हुआ था)। किन्तु यह वाक्य तो सर्वथा अर्थपूर्ण प्रतीत होता है।

इस कठिनाई के समाधान के प्रयत्न में तार्किक भाववाद ने अपनी ओर से स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। वे स्वीकारते हैं कि जब परीक्षणीयता अथवा सत्यापन को अर्थपूर्णता का आधार मानते हैं, तो उनका तात्पर्य वास्तविक अनुभव-परीक्षा से नहीं है। उनका तात्पर्य है कि **'सिद्धान्ततः उनकी अनुभव परीक्षा सम्भव'** हो। 'चन्द्रमा में पर्वत श्रृंखला है' वाले उदाहरण का विश्लेषण करते हुए श्लिक[9] कहते हैं, कि सिद्धान्ततः यह असम्भव नहीं कि मानव उन सभी उपकरणों को इकट्ठा कर ले जिनके द्वारा चन्द्रमा पर जाना सम्भव हो। यदि वैज्ञानिक ढंग से यह स्थापित हो जाता है कि चन्द्रमा पर जाकर यह देखना कि वहाँ पर्वत श्रृंखला है या नहीं असम्भव है,. फिर भी यह वाक्य अर्थहीन नहीं होता, क्योंकि हम

9- Moritz Schlick's. 'Meaning and Verification'. *Philosophical Revin*. Vol XXXXV. PP. 339-69 Included in 'Contemporary Philosophy.' East-West Press 1967.

उन सभी बातों का स्पष्ट विवरण दे सकते हैं, जिनके द्वारा इस बात की अनुभव-परीक्षा सम्भव हो सकता है। अर्थात् इस वाक्य की अनुभव-परीक्षा तर्कतः संभव (**logically possible**) है अतः परीक्षणीयता की कसौटी वास्तविक अनुभव-परीक्षा नहीं, अनुभव परीक्षा की सम्भावना है।

एक दूसरी कठिनाई जो तार्किक भाववाद के समक्ष प्रस्तुत की गयी वह अधिक महत्वपूर्ण सिद्ध हुई, क्योंकि उसके समाधान में इस सिद्धान्त के समर्थकों का मतभेद प्रकाश में आ गया। यदि अर्थ के सत्यापन सिद्धान्त का यह कथन है कि वही वाक्य अर्थपूर्ण होता है जिसे अनुभव-परीक्षा के द्वारा सत्य या असत्य सिद्ध किया जा सके, तो प्रश्न उठता है कि क्या उनका तात्पर्य यह है कि वाक्य तभी अर्थपूर्ण होगा जब या तो उसे निश्चित रूप में सत्य या निश्चित रूप में असत्य बताया जा सके? क्या परीक्षणीयता से उनका तात्पर्य निश्चयात्मक परीक्षणीयता है? यदि ऐसा है तो अनेक प्रकार की कठिनाइयां तथा विसंगतियाँ उत्पन्न हो जायेंगी। सभी प्रकार के पूर्णव्यापी वाक्य अर्थहीन बन जायेंगे। विज्ञान के वाक्य भी अर्थहीन बन जायेंगे। जैसे इन वाक्यों को देखें 'तत्वों में आकर्षण-शक्ति होती है', 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' आदि । इन वाक्यों की निश्चयात्मक अनुभव-परीक्षा तो सम्भव नहीं है, तो क्या वे वाक्य अर्थहीन हैं? इस कठिनाई के समाधान में इस बात के समर्थकों में स्पष्ट मतभेद प्रकट हुआ। शिलक ने तो इसका विचित्र समाधान दिया, उनका कहना है कि वस्तुतः ज्ञानात्मक दृष्टि से ये सभी वाक्य तो अर्थहीन हैं क्योंकि इसके वास्तविक अर्थ का अवबोध नहीं होता। किन्तु इन्हें महत्वपूर्ण निरर्थक वाक्य (**Important Non-sense**) कहा जा सकता है, क्योंकि इनका आधार अनुभव है। वस्तुतः इनकी अनुभव-परीक्षा सम्भव नहीं, हालाँकि इनकी स्थापना की चेष्टा अनुभव के आधार पर है।

किन्तु, दूसरे विचारकों को यह समाधान सन्तोषप्रद प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि उन्हें लगा कि इन वाक्यों के पूर्ण अर्थ का पूर्ण अवबोध भले ही

सम्भव न हो, यह वाक्य अर्थहीन नहीं। इस स्थल पर **कार्ल पौपर** (**Korl Popper**) के मत उल्लेख का वांछनीय है। कार्ल पौपर तार्किक भाववाद के साथ पूर्णतः जुड़े नहीं रहे हैं, हालांकि उनका सम्पर्क इससे रहा है। उनका मत इन सबों से भिन्न तथा पूर्णतः मौलिक है। उनका कहना है कि परीक्षणीयता का अर्थ अनुभव के द्वारा वाक्य की स्थापना नहीं है, बल्कि अनुभव में उस वाक्य की मिथ्यापनीयता की सम्भावना (**Falsification**) है ।[10] कोई वाक्य अर्थपूर्ण हो जाता है यदि अनुभव में उसके मिथ्याकरण की सम्भावना स्पष्ट हो जाय। ऊपर दिये दोनों पूर्णव्यापी वाक्यों ('तत्वों में आकर्षण शक्ति है' तथा 'सभी मनुष्य मरणशील है') को अनुभवस्थापित नहीं कर सकता किन्तु यह सम्भावना स्पष्ट है कि यदि अनुभव में एक विरोधी उदाहरण भी प्राप्त हो जाय तो यह वाक्य खण्डित हो जायेगा। यही अनुभव के द्वारा इसके असत्य वन जाने की सम्भावना, अनुभव से इसके मिथ्याकरण की सम्भावना इस वाक्य को अर्थपूर्ण बनाता है। तो कार्ल पौपर के अनुसार अर्थपूर्णता का आधार सत्यापन नहीं मिथ्यापनीयता है।

पौपर अपने ढंग से प्रभावशाली हुए, किन्तु तार्किक भाववाद में इस मत को प्रश्रय नहीं मिला। इस परम्परा के वाद के विचारकों ने इस समस्या का समाधान दूसरे ढंग से निकाला। उन लोगों का कहना है कि वस्तुतः इस वाक्य की अर्थपूर्णता को सामान्य आनुभविक वाक्यों (जैसे, 'दिवाल उजली है') की अर्थपूर्णता के ढंग पर आंकना नही है, क्योंकि ये वाक्य सूचनात्मक नहीं है, **निश्चयात्मक वृत्ति** (**Indicative mood**) में नहीं है। वस्तुतः वह कोई स्थापना नहीं करता, इस प्रकार के वाक्य तो **हेत्वाश्रित** (**Hypothetical**) वाक्य हैं। उदाहरणतः 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' वाक्य 'क' मरणशील है, 'ख' मरणशील है आदि वाक्यों को स्थापित

10- A. J. Ayer Language Truth & Logic. P. 75

नहीं कर रहा। यह बिना कोई स्थापना किये मात्र यही कह रहा है कि 'यदि क मनुष्य है 'तो वह मरणशील है।' किसी मनुष्य के विषय में यह कुछ नहीं कह रहा है।

ऊपर दिया विवेचन तार्किक भाववाद से बहुत आगे निकल जाता है, इसलिए उसके विशदीकरण में हम प्रविश नहीं करेगें। इस कठिनाई का सबसे सुन्दर समाधान **एयर** ने दिया है। एयर के मत का हम अलग से विवेचन करेगें। यहां हम मात्र यही कहेगें कि एयर ने अनुभव-परीक्षा के स्वरूप के सम्वन्ध में एक बड़ा उपयोगी स्पष्टीकरण प्रस्तुत किया है। **एयर का कहना है कि परीक्षणीयता का अर्थ निश्चयात्मक परीक्षणीयता (Conclusive varification)** नहीं है, वल्कि सम्भावनासूचक परीक्षणीयता (**Probable verification**) है।[11] उनका तात्पर्य यह है कि विज्ञान के वाक्य तथा पूर्णव्यापी वाक्य अर्थपूर्ण हैं, इसलिए नहीं कि अनुभव से उनका निश्चयात्मक सत्यापन हो जाता है, वल्कि इसलिए कि अनुभव से उनके सत्य होने की सम्भावना स्पष्ट होती है।

इस सिद्धान्त के मार्ग में एक और कठिनाई उपस्थित होती है, जिसकी ओर **सी. आई. लेविस (C.I. Levuis)** ने संकेत किया है। उनका कहना है कि उनका यह सत्यापन सिद्धान्त आत्म-आश्रित (**Ego-centric**) हो जाता है। यदि अर्थपूर्णता की कसौटी परीक्षणीयता है, तो परीक्षण करने वाला केन्द्रीय वन ही जाता है। उनका कहना है कि वे स्वीकारते हैं कि तार्किक भाववाद का अभिप्राय इस सिद्धान्त को आत्म-केन्द्रित वनाना नहीं है, किन्तु जिस प्रकार से यह सिद्धान्त प्रतिपादित होता है, उससे यह आत्मनिष्ठ प्रतीत होती ही है। श्लिक ने लेविस के द्वारा वतायी गयी इस कठिनाई पर विचार किया है। उनका कहना है कि इस प्रकार की कठिनाई को और वल मिल जाता है, क्योंकि कारनैप जैसे

11- Schlick. Positivism and Realism vol. I. 1930. P. 152

प्रवल तार्किक भाववादी ने एक विशेष संदर्भ में विधिमूलक आत्मनिष्ठता का उल्लेख ही नहीं समर्थन भी किया है। श्लिक का कहना है कि ऐसी उक्तियों के उपयोग से भ्रान्ति तो उत्पन्न होती ही है, किन्तु यहाँ भाषा से जो व्यामिश्र उत्पन्न हो, विचार से कोई भ्रान्ति उत्पन्न नहीं होती। **विधिमूलक आत्मनिष्ठता** आत्मनिष्ठवाद नहीं है, वल्कि कारनेप की दृष्टि में भी अवधारणा-निर्माण की विधि है। श्लिक का कहना है कि तार्किक भाववाद पर आत्मनिष्ठवाद का आरोप सर्वथा गलत है, क्योंकि जो ऐसा करते हैं, वे वस्तुतः इसके मूल विचार-विन्दु को पकड़ नहीं पाते। उनके अनुसार आध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद अपने हर रूप में आत्म को केन्द्रीय वनाकर अग्रसर होता है। तार्किक भाववाद 'अनुभव' को केन्द्रीय वनाता है। वह आत्म के सम्वन्ध में दिये गये कथनों को भी अर्थहीन कह देता है, क्योंकि 'आत्म' **(Self)** का अनुभव में आनुभाविक आधार नहीं मिलता, आत्म-सम्वन्धी कथनों की आनुभविक परीक्षा संभव नहीं है।

इस प्रकार तार्किक भाववाद के सत्यापन सिद्धान्त का मूल कथन यही है कि वही वाक्य या कथन या स्थापना अर्थपूर्ण माना जाता है जिसकी अनुभव परीक्षा सम्भव हो-जो अनुभविक दृष्टि से सम्भव हो। अनुभविक संभावना अनुभव से सत्यापन-परीक्षा की संभावना अर्थपूर्णता की कसौटी वन जाती है। वाद में तो आपत्तियों का उत्तर देते हुए श्लिक ने तो 'आनुभविक दृष्टि से सम्भव का अर्थ बड़ा ही विस्तृत कर दिया तथा कहा कि ऐसी हर चीज जो प्रकृति-नियमों को खण्डित नहीं करती आनुभविक दृष्टि से सम्भव है। जो प्रकृति के नियमों से संगत है, वह अनुभव में संभव है। इस स्पष्टीकरण से नये प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं, क्योंकि तव 'प्रकृति के नियम क्या हैं? क्या उन नियमों की जानकारी हमें रहती है? आदि प्रश्न उठ जाते हैं। अतः हम तार्किक भाववाद के अर्थ

के सत्यापन-सिद्धान्त का निष्कर्ष यही कर के देखेंगे कि इसके अनुसार अर्थपूर्णता की कसौटी अनुभव-परीक्षा की सम्भावना है।

एक विकल्प अभी भी शेष रह जाता है। कुछ वाक्य ऐसे भी प्रतीत होते है जिनकी अनुभव परीक्षा की सम्भावना भी नहीं है, फिर वे अर्थहीन प्रतीत नहीं होते। उदाहरणतः हम इतिहास के वाक्य को देखें, विज्ञान के सैद्धान्तिक मान्यताओं के सम्बन्ध में वाक्यों को देखें **(Specific Gravity, Vitamins आदि I)** इनकी अनुभव परीक्षा सम्भव नही, फिर भी वे अर्थहीन नहीं माने जाते। कुछ तार्किक भाववादी विचारकों ने इस कठिनाई के निराकरण में एक और स्पर्ष्टीकरण किया है। उनका कहना है कि अनुभव-परीक्षा का अर्थ केवल **साक्षात् अनुभव-परीक्षा (Direct Verification)** नहीं है बल्कि **परोक्ष-परीक्षा (Indirect Verification)** भी है। कारनैप ने परोक्ष-परीक्षा को स्पष्ट करते हुये कहा है कि अनुभव में यदि किसी कार्य (**effect**) का सत्यापन हो जाता है तो परोक्ष रूप से उसे उत्पन्न करने वाले उसके कारक की भी अनुभव परीक्षा हो जाती है। दैनिक जीवन में भी ऐसा होता है। उदाहरणतः हम देखना चाहते है कि बिजली की लाईन (**Current**) है या नहीं, इसे साक्षात् रूप में तो नहीं देख सकते। स्वीच जला देते हैं, यदि विजली जलती है, पंखा चलता है, तो परोक्ष रूप में विजली की धारा के होने का सत्यापन हो जाता है। अतः कहा जा सकता है कि यदि किसी कथन के परोक्ष अनुभव परीक्षा की सम्भावना भी है, तो कथन अर्थपूर्ण है।

ज्ञान–मीमांसा का स्वरूप

'दर्शन' की जटिलताओं में उलझ कर चिन्तकों ने यह प्रश्न उठाया कि हम पहले यह मीमांसा कर लें कि मानव के लिए क्या और कितना ज्ञान संभव है ? जगत के विषय में हम जो कुछ जानते हैं वह इंद्रियों के माध्यम से ही जानते हैं क्या हमारा ज्ञान इंद्रियों द्वारा जो उपलब्धि होती है वहीं तक परिमित नहीं है ? क्या इंद्रियों के द्वारा उपलब्ध प्रतिभास के अतिरिक्त हमें वास्तविक सत्ता का ज्ञान हो सकता है ? क्या हमारा जगत् का ज्ञान हमारे अन्तःकरण और वहिष्करण के संरचना विशेष से परिच्छिन्न नहीं है ? और यदि है-तो हमारा ज्ञान सापेक्ष है, निरपेक्ष नहीं। यदि इंद्रियों के द्वारा हमारा ज्ञान **'परिच्छिंन्न'** होता है, तो क्या केवल बुद्धि के द्वारा अथवा अन्तःप्रज्ञा के द्वारा हम वास्तविक सत्ता का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं ? इन प्रश्नों ने चिन्तकों को मानव-ज्ञान के उदभव और प्रामाण्य (Validity) की परीक्षा के लिए विवश किया । **इस प्रकार की परीक्षा को 'ज्ञान-मीमांसा' कहते हैं** । इस शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग **जे. एफ. फेरियर** ने अपने Inststentes of Metaplhysics (1854) में किया था Episteure (ज्ञान) + Eogos (मीमांसा या चर्चा) । पुनः **ज्ञान मीमांसा दर्शन के उस अंग को कहते हैं जिसमें ज्ञान के उद्भव स्वरूप प्रामाण्य सीमा आदि पर विचार किया जाय** ।

यूनानी दार्शनिकों सुकरात, प्लेटो, अरस्तू इत्यादि ने इस प्रश्नों पर विचार किया था । आगे जॉन लॉक, ह्यूम, काण्ट आदि दार्शनिको ने इन समस्याओं की मीमांसा की ।

ज्ञान मीमांसा की प्रथम समस्या ज्ञान की सम्भवनीयता की है क्या मानव जैसे अल्प बुद्धि जीव के लिए जगत, ब्रह्म और आत्मा जैसे विषयों का अभ्रांत वास्तविक ज्ञान संभव है ?

द्वितीय समस्या यह है कि यदि ज्ञान हो सकता है तो इसकी कोई सीमा है या असीम ज्ञान हो सकता है ?

तृतीय ज्ञान कहाँ से प्राप्त होता है, इसका उद्‌गम या उद्‌भव क्या है?

चतुर्थ, ज्ञान एवं सत्यमत के क्या अंतर है ? यदि कोई व्यक्ति किसी कथन को वास्तव में नहीं जानता है तो या उस विषय में अटकल बाजी किया है तथा एक व्यक्ति उसे जानता है तो प्रश्न उठता है कि दोनों मे अंतर कैसे किया जाय।

कुछ समकालीन दार्शनिक ज्ञानमीमांसा के अन्तर्गत 'ज्ञान' शब्द के अर्थ विश्लेषण में अधिक रूचि रखते हैं । विटगेन्सटाइन और उनके अनुयायियों के अनुसार ज्ञान मीमांसा के लिए ज्ञान की अनिवार्यता और पर्याप्त शर्तो की व्याख्या करना आवश्यक नहीं । 'जानना' और उससे संबधित अन्य ज्ञान मीमांसीय शब्द कुछ ऐसी अर्थ वैज्ञानिक विशेषताएं रखते हैं जिसके संबध मे किन्हीं अनिवार्य एवं पर्याप्त शर्तो को लागू करना संभव नहीं है । ज्ञान के लिए उदाहरणों में केवल पारिवारिक साम्य होता है उसके विषय में तथाकथित शर्तो को लागू करना असंभव है, किन्तु कीथ लेहरर के अनुसार विन्गेसटाइन के अनुयायियों का यह मत भ्रामक है कि किसी संदर्भ में ज्ञान शब्द का प्रयोग करने के लिए एक प्रकार का आधार प्रस्तुत करती है । इससे स्पष्ट है कि ज्ञान मीमांसा का संबध ज्ञान तथा इससे संबधित अन्य पदो के प्रयोग अर्थ निरूपण करने के साथ-साथ ज्ञानकी अनिवार्य और पर्याप्त शर्तो का विवेचन और मूल्यांकन करने से भी है ।

भाषा विश्लेषण और उसके फलस्वरूप स्पष्टता ज्ञान की अभिव्यक्ति और सम्प्रेषणीयता के लिए आवश्यक है । यदि वाक्यों की तार्किक संरचना एवं व्याकारणिक संख्या में अंतर स्पष्ट न हो तो वे भ्रामक दुर्बोध एवं संदिग्ध अर्थ वाले होते हैं जैसे -

'मनुष्य एक समझदार व्यक्ति है ? 'समझदार' गुण है अतः इनके लिए मनुष्य होना आवश्यक है ।

'वन्ध्या पुत्र काल्पनिक है ।' काल्पनिक 'गुण' है, यदि पुत्र काल्पनिक है तो उसका अस्तित्व नहीं हो सकता है और यदि अस्तित्व होगा तो वह काल्पनिक नहीं होगा । अतः व्याकरणिक दृष्टि से दोनों वाक्य सत्य है । किन्तु तार्किक दृष्टि से दूसरा वाक्य असत्य है ।

कुछ दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान मीमांसा के अर्न्तगत हमारा लक्ष्य अनुभवमूलक या अनुभव निरपेक्ष ज्ञान की संभावना का विवेचन करना है। बुद्धिवादी एवं अनुभववादी क्रमशः 'ज्यामिति' तथा 'तथ्यात्मक विज्ञानों' को वैध ज्ञान का आदर्श मानते हैं, किन्तु ज्ञान के अनेक रूप ऐसे हैं जो अनुभव मूलक एवं अनुभव निरपेक्ष ज्ञान की अपेक्षा अधिक संशयग्रस्त होते हैं जैसे - नैतिक मूल्यों का ज्ञान, भविष्य का ज्ञान, भूतकाल की घटनाओं का ज्ञान आदि । इसकी व्याख्या करना भी ज्ञानमीमांसा का लक्ष्य है ।

यदि यह कहा जाय कि समस्त ज्ञान का स्रोत अनुभव है तो किसी न किसी रूप में समस्त ज्ञान को अनुभव से निगमित करना पड़ेगा । यदि अनुभव को ही 'ज्ञान' का एकमात्र स्रोत माना जाय तो हमारे बहुत से ज्ञान संवधी दावे ज्ञान की संज्ञा से ही परिचित हो जायेंगे । अनुभववादी ज्ञान के सिद्धांत को स्वीकार कर लेने पर हमारी ज्ञानमीमासां ज्ञान की कसौटियों के चुनाव की स्वतंत्रता से वंचित हो जीती है । कुछ दार्शनिकों ने अंतःप्रज्ञा को भी ज्ञान के स्रोत के रूप में माना है । किन्तु अंतःप्रज्ञा को स्वीकार करने में कठिनाई यह है कि इसका स्वरूप अत्यन्त दुर्बोध एवं आत्मनिष्ठ होता है। उसे ज्ञान के सार्वभौमिक एवं वस्तुनिष्ठ कसौटी के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है ।

संशयवाद यह मानता है कि जगत जीव ईश्वर किसी चरम सत्य का ज्ञान संशय से मुक्त नहीं रह सकता । दर्शन की समस्याओं का कोई संशय

रहित हल हो ही नहीं सकता। दर्शन मूल तत्वों को ढूँढ़ता है और कोई भी ऐसा मूल तत्व संशय रहित नहीं है, किन्तु संशयवाद के तर्कों से यह बात सिद्ध होती है कि मानव का ज्ञान बहुत अंशों में सापेक्ष है। इससे यह सिद्ध नहीं होता कि मानव को इंद्रियातीत का ज्ञान हो ही नहीं सकता। यदि सभी कुछ संशय से अलग है तो संशय भी तो "सभी कुछ" के अन्तर्गत है अतः संशयवाद भी संशयवाद से युक्त है। संशयवाद इस धारणा मे स्वयं अपना खण्डन कर लेता है, ऐकांतिक संशयवाद असंभव है।

'अज्ञेय वाद' यह कहता है कि परमार्थ तो मानव के लिए सदा अज्ञेय बना रहेगा। संशयवाद तो इतना कहता है कि परमार्थ के विषय में मानव चिंतन जिस किसी भी निर्णय पर पहुँचेगा वह निश्चित नहीं हो सकता। किन्तु अज्ञेयवाद को कुछ चिंतकों ने 'भगोड़' अर्थात मैदान छोड़कर भाग जाने वाला कहा है। हमारे अंदर जो भी आत्मतत्व निहित है वह एक ऐसा निरपेक्ष सत्य है कि उसका आलंबन करके हम बहुत अंश में परमार्थ को समझ सकते हैं।

'निश्चितततावाद' (Positursm) दर्शन के प्रयास को विफल बताता है और यह सुझाव देता है कि इसे छोड़कर केवल प्रपंच या प्रत्यक्ष का, निश्चित का अर्थात विज्ञान का और समाजशास्त्र का अध्ययन करना चाहिए। किन्तु दर्शन, प्रत्यक्ष और निश्चित के विरूद्ध नहीं है।

समीक्षावाद में काण्ट ने कहा कि ज्ञान न केवल बुद्धि जन्य है न अनुभवजन्य इसका प्रादुर्भाव दोनों केसहयोग से होता है।

प्रपंचवाद के अनुसार ज्ञानप्रपंच तक ही सीमित रहता है। व्यवहारवाद का कहना है कि "जिससे कार्य चलता है वही सत्य है।"

रहस्यवाद के अनुसार तार्किक बुद्धि से हम परमार्थ को नहीं समझ सकते क्योंकि परमार्थ बुद्धि की चतुष्कोटि से परे है। परमार्थ की अपरोक्षानुभूति हो सकती है।

हेगेल के अनुसार चेतन **था** ज्ञान का नैतिक स्तर अपनी एक कसौटी की सृष्टि करता है । इस दृष्टि से ज्ञात वस्तु और वास्तविक वस्तु दोनों ज्ञान के अर्न्तगत है ज्ञान का प्रत्येक स्तर अपने आप में अपूर्ण होता है। इसलिए विभिन्न कसौटियां ज्ञान और वस्तु में संकलित सामजस्य स्थापित नहीं कर सकती हैं । ज्ञान के विकास की पराकाष्ठा में ज्ञातवस्तु और वास्तविक वस्तु में पूर्ण समन्वय स्थापित हो जाता है ।

ज्ञानमीमांसा के संवध में अमेरिकी दार्शनिक **क्वाइन** का दृष्टिकोण भी उल्लेखनीय है उसके अनुसार **ज्ञान मीमांशा एक हितीय स्तर का चिंतन है ।**[12] उनके अनुसार 'दर्शन' सत्य की खोज नहीं है वल्कि यह प्राकृतिक विज्ञानों का एक अंश है । ज्ञानमीमांसा की विषय वस्तु नवीन नहीं होती किन्तु प्राचीन समम्याओं की एक 'नवीन-दृष्टिकोण' से अध्ययन करती है। क्वाइन के अनुसार 'संशयवादियों' द्वारा उठायी गयी समस्याओं का समाधान वैज्ञानिक मान्यताओं के अर्न्तगत किया जा सकता है ।

किन्तु क्वाइन का **'विज्ञानपरक पूर्णतारिकवाद'** इस वैज्ञानिक सिद्धांतों से परे कुछ भी विचारणीय नहीं है । वास्तव में प्राकृतिक 'विज्ञान' भी अपने अस्तित्व की स्थापना के लिए किसी रूप में 'मूल्यपरक' आधारों का सहारा लेते हैं । इससे स्पष्ट है कि ज्ञानमीमांसा को विज्ञान का अंश नहीं माना जा सकता है ज्ञान मीमांशीय समस्याएं और विषयवस्तु भले ही विज्ञानों से सवंधित हो, किन्तु ज्ञानमीमांसा का दृष्टिकोण तथ्यात्मक एवं वस्तुपरक होता है ।

ए. डी. वुजले के अनुसार, **'ज्ञानमीमांसा एक अपनाम'** है । वे ज्ञानमीमांसा के स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए 'संज्ञान' शव्द का प्रयोग करते हैं । ज्ञानमीमांसा की परिभाषा 'दर्शन की उस शाखा के रूप में देते हैं जिसके अन्तर्गत संज्ञान एवं उसके विषयों के रूप का अध्ययन किया

---

12. W. V. Quine, *From a Logical Point of View*, (Harper Paperback, 1963) .

जाता है' किन्तु ज्ञान ही ज्ञान मीमांसा का केन्द्र बिन्दु एवं साध्य है । अतः ज्ञानमीमांसा को अपनाम कहना तर्कसंगत नही है। **ए. जे. एयर** के अनुसार ज्ञान मीमांसा के तीन प्रमुख प्रयोजन हैं -

1. ज्ञान की एक संतोष जनक परिभाषा देना ।
2. प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता के ज्ञान का निर्धारण करना ।
3. प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता के ज्ञान की व्याख्या करना ।

इनमें से प्रथम उद्देश्य (ज्ञान की संतोषजनक परिभाषा) अन्य प्रयोजनों की तुलना में महत्वपूर्ण नहीं है । जहां ज्ञान और सत्य विश्वास के बीच में भेद किया जाता है, प्रथम प्रयोजन अर्थात् परिभाषा से कोई महत्वपूर्ण परिणाम नहीं प्राप्त होता है, किन्तु अन्तिम दो प्रयोजन परस्पर संबंधित हैं तथा साथ-साथ सम्पन्न भी किये जा सकते हैं ।**13** एयर की इस मान्यता से सिद्ध होता है कि ज्ञानमीमांसा मुख्य रूप से प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता के ज्ञान और प्रामाणिकता से सम्बन्धित है ।

'दर्शन' के इतिहास में 'दर्शन' की परिभाषा को लेकर विवाद रहा है। 'प्लेटो' एवं अरस्तू के युग में भौतिकी एवं ज्ञान की अन्य विधाओं का अध्ययन 'दर्शनशास्त्र' के अन्तर्गत किया जाता रहा है । तत्वमीमांसीय चिंतन-प्राकृतिक विज्ञानके साथ-साथ नैतिक सौन्दर्यशास्त्रीय और ज्ञानमीमांसीय अध्ययन को भी समाहित करता था किंतु ज्ञान विज्ञान के क्षेत्र का विस्तार होने के कारण तत्व मीमांसा का क्षेत्र संकुचित होता चला गया । इसके परिणामस्वरूप मानव चिंतन की विभिन्न शाखाओं ने अपना-अपना पृथक क्षेत्र चुन लिया ।

वस्तुतः तत्वमीमांसा का जो स्वरूप स्पेंसर के दर्शन में है उसे हेगल और उसके अनुयायी नहीं मानते हैं । इसी प्रकार देकार्त और स्पिनोजा का दृष्टिकोण मार्क्स एवं एंजिल्स को मान्य नहीं है । तत्वमीमांसा का संवध

---

13. A. J. Ayer, *The Central Questions of Philosophy*, Macmillan Company of India, New Delhi, 1979.

अनेक मौलिक दार्शनिक प्रश्नों से रहा है । तत्व के स्वरूप से संबधित अंतिम प्रश्न तत्वर्मीमांर्सीय होता है । उसका आदि और अंत क्या है ? मृत्यु जीवन का अंत है या उसके बाद भी कुछ है ? प्रश्न यह उठता है कि जगत् का प्रतीत होने वाला रूप ही वास्तविक है या उससे भिन्न है ? आभास एवं सत् को एक दूसरे से पृथक कैसे किया जाय । सत्ता की कसौटी क्या है ? उपरोक्त प्रश्नों के उत्तर में तत्वर्मीमांसीय सिद्धान्तों की स्थापना की गयी है । जीवन एवं जगत से संबंधित यह दृष्टिकोण आध्यात्मिक या भौतिक किसी भी प्रकार का हो सकता है ।

अध्यात्मवादियों के अनुसार जगत् का आधार एक चेतन सत्ता है जो अलौकिक एवं दिव्य है किन्तु इसके विपरीत भौतिकवादी तत्वर्मीमांसकों के अनुसार विश्व के मूल में किसी प्रकार की चेतन सत्ता नहीं है । विश्व का आधार चेतन सत्ता हो या अचेतन दोनों ही दृष्टिकोण से तत्वर्मीमांसा के अंतर्गत विश्व के आधार स्वरूप मूलतत्व के स्वरूप का विवेचन करता रहा है । इससे सिद्ध होता है कि "तत्वर्मीमांसा सत्ता के स्वरूप का विवेचन एवं मूल्यांकन करने हेतु प्रयुक्त कसौटियों के निरूपण एवं मूल्यांकन से संवधित है ।"

जर्मन दार्शनिक **वुल्फ (Wolf)** ने दर्शनशास्त्र का विभाजन सैद्धांतिक एवं व्यावहारिक दो दृष्टिकोणों से किया है - उन्होंने दर्शन के सैद्धांतिक पक्ष को सत्ता मीमांसा के (Onotolegy) अंतर्गत रखा है । इसके अतिरिक्त विशिष्ट तत्वर्मीमांसा का संवध सत्ता के विशिष्ट रूपों (ईश्वर, आत्मा और जड़ तत्व) से है । **वुल्फ के अनुसार सत्ता मीमांसा भी 'तत्वमीमांसा' का ही एक अंग है** । वोल्फ का अनुसरण करते हुए अनेक दार्शनिकों ने तत्वर्मीमांसा पद का प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है । हेगेल ने इसका विवेचन प्रकृति दर्शन (Philosophy of Nature) के अन्तर्गत किया है । इसको बौद्धिक सृष्टि विज्ञान (Rational Cosmslogy) कहा

जाता है । थेलीज, एनेक्जिमेण्डर आदि प्राचीन ग्रीक दार्शनिकों का यही प्रतिपाद्य विषय था । सृष्टि की उत्पत्ति कैसे हुई ? किससे हुई ? इन प्रश्नों पर बौद्धिक सृष्टि विज्ञान में विचार किया जाता है । तत्वमीमांसा की द्वितीय शाखा आत्मा या मन के स्वरूप का विवेचन करती है जिसे बौद्धिक मनोविज्ञान या **मनस तत्व** (Philosphy of Mind) का दर्शन कहते हैं।[14]

प्रश्न उठता है कि जीवन और प्राकृतिक जगत के अधिष्टान हेतु कोई आध्यात्मिक सत्ता (ईश्वर) है या जड़तत्व या भौतिक सत्ता ? मूल सत्ता के स्वरूप की कसौटी क्या है ? पुनः सत्ता एक है या अनेक, इन प्रश्नों के उत्तर में 'तत्वमीमांसा' के अर्न्तगत अनके मत मतान्तर प्रचलित हैं। **भौतिकवाद** वह मूल सिद्धांत है जिसके अनुसार विश्व का मूल तत्व जड़ है । भौतिकवाद, प्रकृतिवादी तथा यंत्रवादी है और उच्चतर की व्याख्या निम्नतर के रूप में करता है । भौतिकवाद का सबसे बड़ा समर्थक प्रमाण हमारा दैनिक अनुभव है । भौतिकवाद के सबसे बड़ा समर्थक थेल्स तथा एनेक्जिमेंडर, हेराक्लाइटस, एम्पिडोकल्स, डमोकाइटस हैं । आधुनिक दर्शन में ला मोत्री (La-Mattsie), हेकेल (Hackel), वुकर तथा कार्ल मार्क्स है। अध्यात्मवाद या प्रत्ययवाद इसका ठीक विरोधी है इसके अनुसार मूलतत्व, चेतनस्वरूप या अध्यात्म स्वरूप है और सब कुछ उसी का प्रतिफल है या तो उसकी अभिव्यक्ति (Expresseion) है या छाया मात्र (Shadow) । **द्वैतवाद** मूल तत्व के स्वरूप को जड़ एवं चेतन दोनों मानता है । यही कारण है कि विश्व में दो प्रकार के पदार्थ नजर आते हैं - जड़ तथा चेतन ।

निरपेक्षवाद, वह तत्वमीमांसक सिद्धांत है जो मूलभृत तत्व के रूप में एक निरपेक्ष सत्ता को स्वीकार करता है ।

---

14. हेगल के दर्शन में आत्मा का अध्ययन मनस् तत्व का दर्शन **(Philosophy of Mind)** के अन्तर्गत किया गया है ।

अनेकत्ववाद मूलभूत तत्वों को अनेक मानता है । स्वरूप की दृष्टि से वह कुछ भी हो सकता है ।

एकत्ववाद ठीक इसका विपरीत सिद्धांत है, अनेकत्ववाद की जो कमजोरियां हैं वही एकत्ववाद प्रतिपादन करता है । वर्गसा ने विकास क्रिया के मूल में एक ही सृजनात्मक तत्व जीवन शक्ति (Elan Vital) को स्वीकार किया है । इसी तरह से अनेकेश्वरवाद, एकेश्वरवाद, तटस्थईश्वरवाद सर्वेश्वरवाद, ईश्वरवाद आन्तरातीत ईश्वरवाद में ईश्वर मीमांसा वर्णित है।

अनेक समकालीन पाश्चात्य दार्शनिकों के अनुसार या उसकी विभिन्न संस्थाएं प्रथम स्तर के चिंतन मे सबंधित नही हैं । दर्शन शास्त्र एक द्वितीय स्तर का अनुशीलन है । इससे स्पष्ट है कि तत्वमीमांसा सत् या सत्ता की खोज नही है । चूंकि तत्वमीमांसा का संबध तत्व के स्वरूप की कसौटियों के मूल्यांकन से है इसलिए तत्वमीमांसा का आरम्भ वर्णनात्मक नहीं है । यह नियामक और मार्गदर्शक है । तत्वमीमांसीय समस्याएं और विषय वस्तु भले ही अन्य विज्ञानों एवं विधाओं से ग्रहण की गयी हों अथवा उससे सबंधित हों किन्तु तत्वमीमांसाको की दृष्टि वैज्ञानिकों की दृष्टि से भिन्न होती है ।

कुछ दार्शनिकों ने तत्वमीमांसा को पूर्ण रूप से असंभव बताया है, क्योंकि मानव बुद्धि अपूर्ण एवं सीमित हैं इसलिए मानव पूर्ण तथा असीमित तत्व का ज्ञान नही प्राप्त कर सकता है । काण्ट के अनुसार दर्शन शास्त्र, तत्वमीमांसा के रूप में असंभव है वास्तविक दर्शन ज्ञानमीमांसा है । विटगेन्सटाइन के अनुसार तत्वमीमांसा से सबंधित कथनों का दर्शन शास्त्र से कोई संवध नहीं है । तत्वमीमांसीय कथन अर्थहीन हैं । विटगेन्सटाइन के अनुसार 'जिसके बारे में कुछ न कहा जा सके वहां शांत या चुप रहना चाहिए ।' इस प्रकार तत्वमीमांसा के निराकरण करने के लिए तार्किक भाववादी 'अर्थ के सत्यापन सिद्धांत' का प्रतिपादन करते हैं । परन्तु यदि

सत्यापन सिद्धांत के आधार पर तत्व मीमांसा का निरूपण किया जाय तो अनके वैज्ञानिक सिद्धांत भी निरर्थक सिद्ध हो जाते हैं । इसलिए **जान पासमोर** ने कहा है कि, **"यदि तत्वमीमांसा को आग में जला दिया जाय तो विज्ञान भी भस्म हो जाता है यदि विज्ञान को बचाने का प्रयास किया जाय तो तत्वमीमांसा भी सुरक्षित वापस आ जाती है ।"** इसके अतिरिक्त इंद्रियानुभव पर आधारित सत्यापन सिद्धांत के द्वारा तत्वमीमांसा के निराकरण का दावा खोखला है अनेक संतों एवं ऋषियों ने 'अपरोक्षानुभूति' को भी तत्वज्ञान की एक मात्र कसौटी के रूप में स्वीकार किया है । भाषा बुद्धि एवं साधारण अनुभूतियों के आधर पर तत्व का खंडन या मण्डन नहीं किया जा सकता है । **ब्रैडले** के अनुसार **"तत्व या सत्ता ज्ञान से परे है ।"**[15] यह कथन आलोचकों को तत्वज्ञानी बना देता है । उपनिषदों में तत्वमीमांसा के अर्न्तगत आत्मा के स्वरूप या आत्म-ज्ञान का निरूपण किया गया है । पी. एफ. स्ट्रासन ने अपने 'INDIVIDUALS' (1959) में वर्णनात्मक एवं संशोधनात्मक तत्वमीमांसा में स्पष्ट भेद किया है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट होता है कि तत्वमीमांसा का निराकरण नहीं किया जा सकता है वस्तुतः तत्वमीमांसा के निषेध में कोई न कोई तत्वमीमांसा निहित होती है ।

इस प्रकार ज्ञानमीमांसा एवं तत्वमीमांसा के स्वरूप का विवेचन करने से स्पष्ट है कि उनके बीच में उतना अधिक अंतर विषय वस्तु को लेकर नहीं है जितना कि सत्ता के प्रति भिन्न-भिन्न दृष्टि कोणों के कारण । आधुनिक दर्शन में लॉक और उसके अनुयायी काण्ट, हेगेल और नव्य हेगेलवादियों के दर्शन में इन दोनों शाखाओं के स्वरूप पर प्रकाश डाला गया है । **लॉक** के अनुसार "ज्ञानमीमांसा तत्वमीमांसा की प्रागपेक्षा है ।" किन्तु लॉक ने ज्ञान की वैधता की अपेक्षा ज्ञानके उद्‌भव पर अधिक बल दिया ।

---

15. ब्रेडले, एपियरेन्स एण्ड रियलिटी, **P. 415**

काण्ट के अनुसार तत्वमीमांसा के रूप में दार्शनिक चिंतन संभव नहीं है। किन्तु हेगेल एवं अनके अनुयायियों के अनुसार 'अज्ञेयवाद स्वतः अन्तर्विरोधग्रस्त है।' हेगेल के अनुसार, 'सत्ता ही सत् है और सत् ही सत्ता है।' उनके अनुसार ज्ञान ही सत् है और सत्ता ज्ञान स्वरूप है। इस प्रकार **'हेगेल के दर्शन में ज्ञान मीमांसा एवं तत्वमीमांसा परस्पर सबंधित हो जाते हैं।'**

इस प्रकार हेगेल के दर्शन में तत्वमीमांसा और ज्ञानमीमांसा परस्पर आंतरिक रूप से सम्बद्ध हो जाते हैं। इस आधार पर कहा जा सकता है कि दर्शन शास्त्र की ये दोनों विधाएं एक ही समग्र सत्ता का विवेचन पृथक-पृथक दृष्टिकोणों से करती हैं। यदि किसी दार्शनिक की ज्ञानमीमांसा दूषित हो तो उसके द्वारा प्रतिष्ठित तत्वमीमांसा भी निर्दोष नहीं हो सकती है। इस दृष्टि से ज्ञानमीमांसीय गवेषणा तत्वमीमांसीय अनुशीलन की तार्किक प्रागपेक्षा है यद्यपि ज्ञानमीमांसा तत्वमीमांसा में घनिष्ठ सबंध है तथापि हेगेल के मत से पूर्णतः सहमत होना कठिन है। उनका दर्शन अतिशय वैशिष्टता से ग्रस्त है। सत्ता केवल बौद्धिक ही नहीं बुद्धि व ज्ञान के अतिरिक्त भी कुछ है।

उपरोक्त विवेचन से यह सिद्ध होता है कि तत्वमीमांसा का क्षेत्र एवं विस्तार ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र की अपेक्षा अधिक व्यापक है। जहां तत्व के स्वरुप और उसकी कसौटियों के लिए ज्ञानमीमांसा तत्वमीमांसा पर आधारित है, वहीं मानव ज्ञान के स्वरूप प्रामाण्य और प्रतिमानों के विवेचन एवं मूल्यांकन के लिए तत्वमीमांसा को ज्ञान मीमांसा की आवश्यकता है। ज्ञान के स्वरूप संरचना और वैधता के बिना निर्धारण किए हुए तत्वमीमांसीय विवेचन करना तर्कतः संभव नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि 'दर्शनशास्त्र' की ये दोनों विधाऐं एक दूसरे की पूरक हैं।

ए. जे. एयर के प्रमाणीकरण का सिद्धान्त

प्रथम महायुद्ध के पश्चात समकालीन चिन्तन के क्षेत्र में एक विशेष विचार धारा का जन्म सन् 1922 ई. में हुआ, जिसे तार्किक प्रत्यक्षवाद की संज्ञा दी जाती है। इस विचार के प्रवर्तक वियना के कुछ उच्च कोटि के दार्शनिक हैं। इनमें औटो न्युरथ, रुडाल्फ कार्नप, मौरिज स्लिक, फ्रेडरिच वेस्मन इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। कुछ ही समय के उपरान्त इनके विचारों की स्पष्टता और विषय की छान-बीन ऐसी पद्धति से प्रभावित हो, विचारकों ने भी इसे अपनाया। इसमें ए. जे. एयर का नाम मुख्य है। इस समय तक प्रत्ययवादी विचार की गहरी छाप दार्शनिकों के मन-मस्तिष्क पर पड़ी थी और तत्वमीमांसा के समर्थकों की भी कमी न थी। किन्तु तार्किक प्रत्यक्षवाद के प्रवर्तकों ने यह दिखलाने का प्रयास किया कि दर्शन का उद्देश्य वास्वतिक रूप से जीवन या विश्व की समस्याओं से अधिक महत्पूर्ण अपनी चिन्तन-पद्धति एवं विचार-प्रक्रिया में सुधार लाना है, क्योंकि दर्शन के क्षेत्र में इनके पूर्व जो भी विचारक हुए वे अनुभूत जगत् से परे किन्हीं ऐसे तत्वों की खोज और अन्वेषण में लगे रहे जिनकी सत्यता के संबंध में अवतक कोई निर्णय नहीं हो सका है। इससे यह वात स्पष्ट है कि उनकी चिन्तन-प्रणाली में अवश्य कोई दोष रहा है और यही कारण है कि परम्परावादी विचारकों को तत्व-मीमांसा से प्रायः निराशा ही मिली है। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि दार्शनिक समस्याओं का स्पष्टीकरण कर हम यह दिखलायें कि किसी कथन की सार्थकता अनुभूत जगत् में सिद्ध हो सकती है या नहीं। तार्किक प्रत्यक्षवादियों का मूल उद्देश्य लोगों में विज्ञान तथा गणितीय तथ्यों में आस्था उत्पन्न कर परम्परागत तत्वशास्त्रीय सिद्धान्तों की त्रुटियों को स्पष्ट करना कहा जा सकता है। इस दृष्टि से एक अर्थ में दर्शन का उद्देश्य पूर्णतया आलोचनात्मक या विश्लेषणात्मक है। विट्गेन्स्टाइन के आधार पर हम कह सकते हैं कि विचारात्मक प्रक्रिया में सुधार लाकर दार्शनिक समस्याओं का पूर्णतया समाधान करना ही दर्शन का एकमात्र उद्देश्य है।[1]

किन्तु जिस तर्कनिष्ठा स्पष्टता या विश्लेषणात्मक प्रक्रिया की ओर इन दार्शनिकों का संकेत है उससे प्रायः यह भ्रम होता है कि शायद विश्लेषण का तात्पर्य किसी विषय को उसके विभिन्न तत्वों में विभक्त करना है।[2]

---

1. 'The clarity we are aiming at is indeed complete clarity. But this simply means that the philosophical problems should completely disappear'. *Philosophical Investigation*. Basil Blackwell, 1958. sec 133

2 A. J. Ayer, *Language. Truth & logic*, London 1962, p. 56

किन्तु इस प्रकार का विश्लेषण किसी के लिए न तो संभव है और न व्यावहारिक दृष्टि से इसकी परीक्षा ही हो सकती है । इन विचारकों का उद्देश्य तो दार्शनिक समस्याओं का स्पष्टीकरण कर उनकी सार्थकता को प्रमाणित करना है ।[3] कहना न होगा कि दार्शनिक चिन्तन में तार्किक प्रत्यक्षवादियों के लिए तत्वमीमांसा ही सबसे गंभीर समस्यापूर्ण विषय प्रतीत हुआ,[4] क्योंकि अनुभूत जगत् के परे किसी सत्ता को हमारी बुद्धि स्वीकार नहीं कर सकती है । अतः कोई भी विचार सार्थक तभी कहा जा सकता है जब उसकी वास्तविक परीक्षा की संभावना रहती है ।[5] ह्यूम ने भी आनुभविक कसौटी को ही सत्यता का प्रमाण मान कर कार्यकारण-सिद्धांत और द्रव्य-प्रत्यय की मान्यता अस्वीकार की थी, क्योंकि इनकी यथार्थता का कोई अनुभवगम्य प्रमाण हमें नहीं मिल पाता है । अतः अनुभववादियों ने किसी कथन की सार्थकता सिद्ध करने के उद्देश्य से एक विशेष पद्धति अपनायी, जिसे **प्रमाणीकरण** का सिद्धांत कहते हैं । इस सिद्धांत के प्रतिपादक विशेष रूप से एयर माने जाते हैं ऐसे तो इस परीक्षात्मक विधि का संकेत विट्गेन्स्टाईन के लेखों में मिलता है।[6] इससे यह स्पष्ट होता है कि हमारे वाक्य या कथन प्रतीकात्मक रूप से अनुभूत वस्तुओं का प्रतिनिधित्व करते हैं मानों वे उनके अनुरूप हों। इस दृष्टि से किसी विषय की सार्थकता सिद्ध करने के उद्देश्य से प्रमाणीकरण से अधिक सुलभ और कोई दूसरा प्रमाण संभव नहीं है और यही एक मात्र कारण है कि तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने दृढ़तापूर्वक इसका समर्थन किया है । यहां हम एयर के आधार पर प्रमाणीकरण सिद्धान्त की विशेषताओं पर विचार करेंगे ।

---

3. A. J. Ayer's. *'The vienna Circle'* in the Revolution in philosophy. New Yourk. 1967.
4. "that there are entities which lie beyond the reach of any possible experience, 'Kantian things-in-Them-selves"
J.A. Passmore, *A Hundred years of Philosophy*, Penguin Books, P. 368.
5. "that a statement is meaningful ...if there is a way in which it could be verified (or tested)"; Warnock, English Philosophy since 1900, Oxford, 1969, p. 35.
6. "to understand a proposition is to know what is the case, if it is true ". Tractatus etc. Kegan Paul. 1961, p.41 .

प्रमाणीकरण सिद्धांत

यह निर्विवाद है कि प्रत्येक वाक्य या कथन किसी-वस्तु का निर्देश करता है। यदि ऐसी बात सत्य न हो तो उस कथन के प्रयोग का कोई प्रयोजन नहीं कहा जा सकता है। अतः वही कथन वास्तविक रूप से महत्वपूर्ण माना जा सकता है जिसकी सत्यता का कोई प्रमाण अनुभूत जगत् में संभव है। इससे यह सिद्ध होता है कि जिस कथन की सत्यता या असत्यता की परीक्षा हमारे अनुभव के परे है तो यह केवल अर्ध-प्रतिज्ञप्ति हो सकती है। ऐसे विचार मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारी भावना की तृप्ति भले कर लें, किन्तु तार्किक दृष्टि से उनमें निरन्तर वास्तविकता का अभाव रहता है। अतः यदि उन कथनों से किसी अनुभूत विषय का ज्ञान नहीं होता तो वे व्याकरण की दृष्टि से कितने ह्यूम ने भी आनुभविक कसौटी को ही सत्यता का प्रमाण मान कर कार्यकारण-सिद्धांत और द्रव्य-प्रत्यय की मान्यता अस्वीकार की थी, क्योंकिही शुद्ध ओर सबल क्यों न हों, पर तार्किक अर्थ में वे कोरी-कल्पना के अलावा और कुछ भी नहीं माने जा सकते हैं। प्रत्येक अवस्था में अभिकथनों को प्रमाणीकरण के योग्य होना नितांत आवश्यक है और तभी वे सार्थक कहे जा सकते हैं। एयर ने इसके महत्व पर विचार करते हुए यह कहा - प्रमाणीरण सिद्धांत हमें एक ऐसी कसौटी प्रदान करता है जिससे यह निश्चय किया जा सके कि कोई वाक्य शव्दशः दृष्टि से अर्थपूर्ण है या नहीं। आनुभाविक दृष्टि से किसी कथन के सार्थक होने का तात्पर्य यह है कि वह विश्लेषणात्मक हो या अनुभव के द्वारा प्रमाणीकरण के योग्य हो। प्रत्यक्षवादिपों के अनुसार तत्वमीमांसा संवंधी कथनों की निरर्थकता का मूल कारण यही है कि उनकी यथार्थता की सिद्ध प्रमाणीकरण के अपेक्षित नियमों के परे है।

इसी अर्थ में **हौसपस**[8] ने भी किसी कथन की सार्थकता की कसौटी के रूप में परीक्षा-योग्यता-सिद्धांत की बात कही है और इसके लिए एक तो प्रमाणीकरण और दूसरा पुष्टिकरण ऐसी दो विधियों को प्रस्तुत किया है। किन्तु ये दोनों विधियां किसी वस्तुस्थिति के निरीक्षण पर ही आधारित हैं । इन विधियों का तात्पर्य यही है कि जो कथन प्रमाणीकरण या पुष्टिकरण के योग्य हो वही कथन सार्थक माना जा सकता है । उदाहरणार्थ यदि हम यह कहें कि इस झोले में रखी सभी गोलियां काली हैं और यदि हम कुछ गोलियों को काली पाते हैं तो इस कथन की पुष्टि हो जाती है । किन्तु इसे तबतक पूर्णतया प्रमाणित नहीं कहा जा सकता जबतक सभी गोलियों का अवलोकन नहीं कर लिया जाता। हाँ, हमारा कथन कि इस झोले में रखी सभी गोलियां काली हैं निश्चय ही अनुभवगम्य है और इस माने में यह कथन परीक्षा के योग्य भी है । अतएव यह विचार तथ्यात्मक कहा जाएगा ।[9] अतः मुख्य रूप से ऐसा कथन जिसकी परीक्षा अनुभव द्वारा संभावित हो, वही प्रमाणीकरण-सिद्धांत की दृष्टि से सार्थक कहा जा सकता है । एयर के शब्दों में हम कह सकते हैं कि 'व्यक्ति' विशेष के लिए एक कथन तथ्य की दृष्टि से तब और केवल तभी सार्थक होता है जब वह जानता है कि किन बातों का अवलोकन करने से किन स्थितियों में वह उस प्रतिज्ञप्ति को सत्य मानेगा या उसे असत्य घोषित करेगा ।[10]

---

8. John Hospers. *An Introduction to philosophical Analysis*, Indian Print.

pp.-- in other words. the possibility of verification (or Confirmation)"..

Ibid.. p. 261.

9.John Hospers, *An Introduction to Philosophical Analysis*, Indian Print, "Meaning depends not on actual verification but on verifiability_ in other words, the possibility of verification (or Confirmation)", p. 261.

10. A. J. Ayer, *Language Truth & Logic*,. P. 35.

प्रमाणीकरण की व्याख्या करते हुए एयर ने सर्व प्रथम इसके दो रूप बताये हैं - **वास्तविक प्रमाणीकरण तथा सैद्धान्तिक प्रमाणीकरण** । अतः अनेकों ऐसे कथन हैं जिनकी सत्यता में हमें कोई संदेह नहीं रहता है यद्यपि व्यावहारिक रूप से उनकी परीक्षा संभव नहीं है । परन्तु यदि पर्याप्त साधन उपलब्ध हों तो उन्हें प्रमाणित किया जा सकता है । इस दृष्टि से ऐसे कथन की अर्थपूर्णता वास्तविक प्रमाणीकरण के योग्य होती है । उदाहरणार्थ, यदि यह कहा जाए कि 'संखिया जहर है' तो यह वास्तविक परीक्षा के योग्य है । इसके अतिरिक्त वे कथन जो ऐसी विषय-वस्तु से संबंध रखते हों जिनकी परीक्षा व्यावहारिक रूप से तो नहीं किन्तु सैद्धान्तिक दृष्टि से हो सकती है उन्हें भी अर्थपूर्ण माना जा सकता है । उदाहरणार्थ यदि यह कहा जाए कि 'मंगल ग्रह पर जीवों का वास है' या 'चन्द्रमा की दूसरी ओर पर्वत है' तो ये बातें ऐसी नहीं है जो किसी भी अवस्था में अनुभवगम्य न हो, क्योंकि पर्याप्त साधनों के द्वारा इन कथनों की सत्यता या असत्यता का निर्णय हो सकता है । अतएव सैद्धान्तिक रूप से ये प्रतिज्ञप्तियां प्रमाणीकरण के परे नहीं है।[11] प्रमाणीकरण संबंधी दो और पक्षों की ओर एयर संकेत करते हैं, जिनमें एक को सबल तथा दूसरे को निर्बल प्रमाणीकरण कहा गया है । सबल प्रमाणीकरण से हमारा तात्पर्य उस परीक्षात्मक विधि से है जिसके द्वारा किसी कथन की सार्थकता निश्चित रूप से साक्षात् अनुभव के द्वारा सिद्ध हो सकती है । दूसरी ओर प्रमाणीकरण

---

11. A. J. Ayer, *Language Truth & Logic* "The proposition is verifiable in principle. if not in practice', p. 36.

निर्वल अर्थ में वह है जहां किसी कथन का सार्थकता-सिद्धांत अनुभव के द्वारा प्रमाणित किया जा सकता है।[12]

यह विल्कुल स्पष्ट है कि यदि किसी कथन की सार्थकता पूर्ण प्रमाणीकरण पर निर्भर करती हो तो यह प्रत्येक अवस्था में संभव नहीं है। एयर इन विचारों के समर्थन में निम्नलिखित उदाहरणों को उद्धृत करते हैं - 'सब मनुष्य मरणशील हैं' या 'किसी वस्तु के गरम किए जाने पर वह फैलती है' आदि । इन कथनों की कुछ ऐसी विशेषताएं हैं कि उनसे संबधित सभी उदारणों की परीक्षा कर किसी निश्चित निष्कर्ष पर पहुंचना संभम्व नहीं है । अतः पूर्ण प्रमाणीकरण को यदि किसी कथन की सार्थकता का आधार मान लिया जाए तो शायद ही किसी सर्वमान्य नियम या सर्वव्यापी वाक्य को महत्वपूर्ण कहा जा सकता है । इस दृष्टि से हमारे समक्ष घटनाएँ केवल संभावनात्कम होंगी यद्यपि उनके समर्थन में हमारे समक्ष कितने भी प्रमाण क्यों न हों । **लेजरोविज**[13] ने प्रमाणीकरण के इन सवल और निर्वल रूपों के संबंध में शंका व्यक्त की है । उनके अनुसार एयर के तथ्‌यात्मकता संबंधी ये सिद्धांत मूलतः एक ही अर्थ के सूचक हैं । सच तो यह है कि सबल और निर्वल प्रमाणीकरण का भेद कुछ इस प्रकार किया गया है जो कभी भी मान्य नहीं हो सकता, क्योंकि जब किसी अनुभूत विषय की प्रमाणिकता सवल अर्थ में असंभव मानी जाए तो फिर निर्वल अर्थ का क्या महत्व हो सकता है ? अतः लजरोविज के अनुसार यह भेद कोई भी तथ्य नहीं रखता । एयर लजरोविज के इस सुझाव का समर्थन करते हुए बाद में प्रकाशित होने वाले अपने एक लेख[14]

12.A. J. Ayer, *Language Truth & Logic* 'A proposition is said to be verifiable, in the strong sense of the term, if and only if, its truth could be conclusively established in experience. But it is verifiable, in the weak sense, if it is possible for experience to render it probable'. p. 37.

13 Cf ' Strong and weak Verification I', *Mind* Vol. XLVIII, 1939, included in Lazerowitz's *The Structure of Metaphysics*', Kegan paul, 1963, pp. 117-29.

14. Cf. A. J. Ayer's *'Verification and Experience'* in proc. of the Arist. Soc. Vol. XXXVII.

में यह स्वीकार करते हैं कि संभवतः प्रमाणीकरण संवंधी सवल और निर्वल ये दो भेद सच्चे विकल्प नहीं हैं । कारण यह है कि जव सभी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियां प्राक्कल्पनाएं हैं, जिनका आगे के अनुभवों द्वारा जांच वरावर चलती रहती है, तव किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता निर्णायक रूप से कैसे सिद्ध हो सकती है ? अतः, एयर ने यह स्पष्ट किया है कि आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों में कम-से-कम मूल-वाक्य को प्रमाणीकरण के सवल अर्थ में स्वीकार किया जा सकता है। फलतः वे अपने आप को ऐसे व्यक्तियों की कोटि में मानते हैं जो यह कहतें हैं कि इस प्रकार की प्रतिज्ञप्ति असंशोधनीय हैं । उदाहरणार्थ, यदि यह कहा जाए कि मुझे दर्द है तो यह बात पूर्ण रूप से सत्य मानी जाएगी, क्योंकि यहां जो कुछ भी कहा जा रहा है, उसे अपनी साक्षात् अनुभूति के आधार पर ।

अतः यह कभी भी शंकाजनक नहीं माना जा सकता है।[15] इस दृष्टि से एयर के अनुसार प्रमाणीकरण सवल अर्थ में संभव है जहां हमारा संवंध स्वयं किसी साक्षात् विषय से रहता है । किन्तु लजरोविज एयर के इस उत्तर से संतुष्ट नहीं हैं और उसी संदर्भ में प्रकाशित होने वाले दूसरे लेख[16] में एयर के मत का विरोध करते हुए यह विचार देते हैं कि जो किसी व्यक्ति को अपनी अनुभूति के द्वारा स्वयंसिद्ध ज्ञात होता है उसके संवंध में निश्चयात्मकता का कोई भी प्रश्न नहीं उठता। कारण यह है कि ऐसी अनुभूति की प्रमाणीकता का प्रश्न तभी उठता है जव हम आरम्भ से ही उसके विषय में बिल्कुल अनभिज्ञ हों । किन्तु ऐसी

15.Cf. A. J. Ayer's 'Verification and Experience', "My being in pain will verify the proposition that I am in pain ... when I say ' I am in pain, I mean I am in pain. and if p.. then p". p. 154.

16. ' Strong and weak verification II'. Mind Vol. LIX, 1950. pp. 130-43, in op cit.

संभावना कभी भी नहीं है।[17] अतः प्रमाणीकरण के सबल अर्थ का कोई भी तात्पर्य नहीं हो सकता ।

यद्यपि लजरोविज के विचार में तथ्य तो अवश्य है, तथापि यह ध्यान में रखते हुए कि किसी विशेष संदर्भ में ही एयर ने आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को असंशोधनीय या निश्यचात्मक माना है, हम नहीं कह सकता कि कोई मूल्यवाक्य आवश्सक रूप से सत्य नहीं है । किन्तु साधारणतः अन्य सभी आनुभविक प्राक्कल्पनायें प्रमाणीकरण के निर्बल अर्थ में ही प्रमाणित कही जा सकती हैं ।

सार्थक प्रतिज्ञप्तियों में, अन्य प्रत्यक्षवादियों की तरह, एयर के अनुसार भी केवल संश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियां ही मान्य हैं । इन दोनों प्रतिज्ञप्तियों में जो साधारण भेद है वह इतना ही कि जहां संश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों में विधेय उस कथन के उद्देश्य का निहित अंग नहीं होता अर्थात् विधेय को विना विरोध के अस्वीकार किया जा सकता है, वहां दूसरी ओर विश्लेषात्मक वाक्यों में यह विशेषता निश्चित रूप से होती है । अर्थात् विधेय को विना आत्मविरोध के अस्वाीकर नहीं किया जा सकता है । दूसरे अर्थ में हम कह सकते हैं कि सभी प्राक्कल्पनायें जैसे कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं' या 'मनुष्य दानव है' आदि संश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियां हैं और ऐसे वाक्य जैसे त्रिभुज आकार है या 7+5=12 आदि को विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों के रूप में माना जाता है। संश्लेषत्मक प्रतिज्ञप्तियां इन्द्रियानुभव - सापेक्ष होती है और इसी कारण उनकी सत्यता का निर्णय अनुभूत तथ्यों के द्वारा ही संपादित होता है । किन्तु विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता उन वाक्यों में प्रयुक्त पदों की परिभाषा में ही निहित होती है । फलतः उनका खंडन आत्मव्याघातक होता है ।

---

17 ' Strong and weak verification II'. Mind Vol. LIX, 1950 " It is not possible to apply ' strongly verfiable' to basic propositions .. For a person who has a pain cannot have it without knowing that he has it". p. 135.

जहांतक हमारा तात्पर्य संश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्ति से है हमने देखा कि मूलवाक्य को छोड़ सभी प्रमाणीकरण के केवल निर्बल अर्थ में ही, एयर के अनुसार, मान्य हैं : प्रमाणीकरण के सबल अर्थ में, अर्थात निश्चित और अनिवार्य केवल विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियां की हो सकती हैं । अतः प्रमाणीकरण के संदर्भ में इस वाक्य की विशेषताओं पर प्रकाश डालना आवश्यक हो जाता है और तभी ऐसे वाक्यों कि निश्चयात्मकता के संबंध में कोई निर्णय लेना न्यायसंगत कहा जा सकता है ।

विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्ति के उदाहरण स्वरूप गणित तथा तर्कशास्त्र के वाक्यों को लिया जा सकता है । ऐसे वाक्य इन्द्रियानुभव-निरपेक्ष होने के कारण किसी विषय-वस्तु से स्वतंत्र होते हैं । किन्तु वे सामान्यरूप से सत्य और निश्चित होते हैं । इसका यह अर्थ नहीं कि विश्व में ऐसे तत्व भी संभव हैं जो बौद्धिक या जन्मजात हैं और जो अनुभवगम्य न हों, क्योंकि इस विचार का प्रश्रय देना तो अनुभववाद का ही खंडन होगा । मिल ने तो इनकी सत्यता में इसलिये विश्वास किया कि जब अनेक उदाहरणों में हमारा अनुभव किसी विषय के संबंध में एक-सा रहता है तब आगमनात्मक सामान्यीकरण के द्वारा उनकी सत्यता प्रमाणित होती है। किन्तु एयर के अनुसार ऐसे अनुभव पर आधारित किसी भी कथन को निश्चित और अनिवार्य नहीं माना जा सकता । फलतः तर्कशास्त्र तथा गणित के नियम भी प्राक्कल्पनायें ही होगें ।

किन्तु इस निष्कर्ष को स्वीकार नहीं किया जा सकता और गणित तथा तर्कशास्त्र के नियम अनिवार्यतः सत्य हैं । एयर ने यह स्पष्ट किया है कि उनकी अनिवार्यता या निश्चयात्मकता का मूल कारण यह है कि वे विश्लेषणात्मक हैं और इस माने में वे सभी पुनरूक्तियां हैं, क्योंकि गणित तथा तर्कशास्त्र के नियमों की व्याख्या जिन वाक्यों के माध्यम से होती हैं उनमें प्रयुक्त पद प्रर्यायवाची होते हैं । यही एकमात्र कारण है जिससे कि

उन वाक्यों का निषेध आत्मविरोधात्मक होता है । उदाहरणार्थ यदि यह कहा जाए कि 'त्रिभुज आकार नहीं है' या 'वृत्त गोलाकार नहीं है' तो यहाँ आत्म-विरोध का दोष होगा ।

कांट के अनुसार जब विधेय किसी वाक्य के उद्देश्य में अन्तर्निहित होता है तो उसे विश्लेषात्मक कहा और दूसरी ओर संश्लेषात्मक वाक्यों का आधार अनुभव माना । कांट के आधार पर यदि यह कहा जाए कि 'सभी द्रव्य विस्तारमय होते हैं' या 'त्रिभुज आकार है' तो उद्देश्य पद में ही विस्तार का अर्थ निहित है या त्रिभुज में ही आकार एसी विशेषता अन्तर्निहित है । दूसरी ओर संश्लेषात्मक वाक्यों के उदाहरण में कांट के अनुसार यह कहा जा सकता है कि सभी द्रव्य भारी हैं या 7+5=12। यहां भारीपन का ज्ञान द्रव्य में पहले से निहित नहीं है ओर न 12 का ज्ञान 7 तथा 5 के योग ऐसे विचार मात्र में पहले से अन्तर्निहित है ।

एयर कांट के इस विचार का विरोध करते हैं । उनका विश्वास है कि कोई वाक्य इसलिये विश्लेपात्मक नहीं है कि उसका उस वाक्य के उद्देश्य की कोई मूल विशेषता होती है, बल्कि, जैसा कि पहले कहा गया है, उन वाक्यों में व्यक्त अर्थ के विपरीत कोई बात सोची जाय तो वह व्याघातक सिद्ध होगी, क्योंकि ऐसी बात भाषा-विज्ञान के निर्धारित नियमों के विरुद्ध होती है।[18] अतः इस दृष्टि से जिन गणित या तर्कनिष्ट वाक्यों को कांट संश्लेषणत्मक मानते हैं वे वास्तविक रूप से विश्लेषणात्मक हैं । उदाहरणर्थ यदि कहा जाए कि 'प सत्य है वा सत्य नहीं है' या '7+5=12', तो ये दोनों प्रकार के वाक्य विश्लेषात्मक हैं, क्योंकि इनकी सत्यता इन में प्रयुक्त पदों में ही समाहित है । फलतः यहां किसी अनुभव की आवश्यकता नहीं पड़ती । कांट के विचार में दोष का एकमात्र कारण

18. We cannot abandon them without contradiction ourselves, without sinning aginst the rules which govern the use of language, and making our utterances self-stultifying'; *Language Truth & Logic*, p. 77.

यह है कि वाक्यों की परख वे भिन्न-भिन्न दृष्टियों से करते हैं, अर्थात् एक में मनोवैज्ञानिक तथा दूसरे में तार्किक। इस प्रकार 7+5=12 को एक संश्लेषात्मक वाक्य के रूप में मानने का आधार उनको यह है कि 7+5 के मानसिक स्वगुणार्थ में 12 का मानसिक स्वगुणार्थ सम्मिलित नहीं है, क्योंकि जबतक साक्षात् रूप से 7 तथा 5 का योग नहीं कर लिया जाता तबतक इस निर्णय पर हम नहीं पहुँचते कि उनका योगफल 12 होगा। दूसरी ओर द्रव्य में विस्तार है ऐसे वाक्य को विश्लेषात्मक की मान्यता देने का एक मात्र आधार तार्किक दृष्टिकोण रखा गया है, जो व्याघातक सिद्धांत पर आधारित है। अतः भिन्न दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप इस प्रकार का भ्रम होता है जिससे कांट किसी विश्लेषात्मक वाक्य को भी संश्लेषात्मक इस प्रकार हमने देखा कि यद्यपि विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियां वस्तुस्थिति से स्वतंत्र होती हैं तथापि उन वाकयों में प्रयुक्त पदों के पारस्परिक संबंध से वे हमारे विश्वास में निहित उस तथ्य को व्यक्त करती हैं जिसके फलस्वरूप उनकी अनिवार्यता या निश्चयात्मकता में हमें तनिक भी संदेह नहीं होता। संक्षेप में, प्रमाणीकरण सिद्धांत के आधार पर अर्थपूर्ण कथन वे ही कहे जाएंगे जो या तो अनुभव सापेक्ष प्राक्कल्पनायें हों या अनुभव निरपेक्ष होने पर पुनरुक्तियां हों, क्योंकि किसी अनुभवगम्य विषय होने पर उन्हें वास्तविक या सैद्धान्तिक रूप से प्रमाणित करने की संभवना निरन्तर रहती है। इस आधार पर हम कह सकते हैं कि एयर के अनुसर प्रमाणीकरण सिद्धांत समुचित अर्थ में किसी कथन या वाक्य संबंधी अर्थ निरूपण की कसौटी है। अतः किसी प्रतिज्ञप्ति की सार्थकता उसके प्रमाणीकरण पर ही निर्भर करती है।

इस सिद्धांत के विपरीत कई आपत्तियां उठाई जाती हैं। कई ऐसे तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवादी विचारक हैं, जो इस सिद्धांत को सर्वथा वांछनीय नहीं

मानते । उदाहरणार्थ **मौरित्स शिलक**[19] के अनुसार यह पूर्वमान्यता मात्र है कि किसी वाक्य की सार्थकता अनुभूत विषय के आधार पर सिद्ध हो सकती है, नितान्त गलत है । सच तो यह है कि जब भी किसी वाक्य का प्रयोग किया जाता है तब हम उसके अर्थ से परिचित रहते हैं और यदि ऐसी बात न हो तो उस वाकय के प्रयोग का कोई भी महत्व नहीं है। अत: यह प्रश्न कि कोई भी वाक्य या कथन कब तथ्यात्मक होगा, निरर्थक सा जान पड़ता है।[20] अत: शिलक इस मत का विरोध करते हैं कि किसी वाक्य की सार्थकता संभव या वास्तविक प्रमाणीकरण पर ही निर्भर करती है। इनके अनुसार किसी वाक्य का अर्थ उसकी रचना पर ही आधारित रहता है जो हमारे भाषीय तर्क-संगत व्याकरण के नियमों से आबद्ध होता है और इन नियमों का स्थान भाषा से परे किसी वास्तविक स्थल में नहीं है,[21] वरन् हमने अपनी सुविधा के लिए उनका निर्माण किया है । अत: किसी वाक्य का अर्थ सामान्य रूप से उस वाक्य में ही निहित रहता है ।

---

19. Cf. Moritz schlick's '*Meaning and Verification*'. *Philosoophical Review*. Vol. XXXXV. pp 339-69 included in 'Contemporary phil.' East-West press 1967. pp. 255-82.

20. Cf. Moritz schlick's '*Meaning and Verification*'. *Philosoophical Review*. Vol. XXXXV ." For is it not the very nature and purpose of every proposition to express its own meaning ? In fact, when we are confronted with a proposition (in a language familiar to us) we usually know its meaning immediately". Sec. I. p. 256.s

21. Cf. Moritz schlick's '*Meaning and Verification*'. " Grammatical rules are not found anywhere in nature ... so you cannot give meaning to a sentence by discovering a methed of verifying it ".. sec. III. p. 266.

एयर के अनुसार प्रमार्णाकरण का उद्देश्य किसी कथन के अर्थ को स्पष्ट करना है और इस प्रकार उसकी सार्थकता को कसौटी के रूप में यह प्रस्तुत किया गया है । श्लिक के आदेशानुसार यह किसी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों की वयाख्या कही जा सकती है जिससे किसी वाक्य की सार्थकता सिद्ध हो सकती है । किन्तु श्लिक यह स्पष्ट नहीं करते कि इन शब्दों का पारस्परिक संबंध कैसा हो जो तथ्य की दृष्टि से तर्कसंगत जान पड़े, क्योंकि हो सकता है कि शब्दों के अर्थ और उनके पारस्परिक संबंध के बीच हम कोई गलती कर बैठें । अतः प्रत्येक अवस्था में जहां आनुभविक तथ्यों का प्रश्न है किसी कथन की सार्थकता अनुभूत विषय-वस्तु पर ही आधारित है। किन्तु श्लिक शायद इस कठिनाई का अनुभव करतें हैं और अनुभूत विषय के आधार पर ही, एक उदाहरण में, यह सिद्ध करते हैं कि 'नग्नता' जिन नियमों के द्वारा सिद्ध होती है वहां वस्त्रधारण करना अनियमित जान पड़ता है ।22 यह ठीक है कि जहां किसी इन्द्रियानुभव निरपेक्ष अर्थ का प्रश्न है वहां निर्णय किसी प्रतिज्ञप्ति में प्रयुक्त पदों पर ही निर्भर करता है । किन्तु आनुभविक तथ्यों के विषय में ऐसी बात नहीं कही जा सकती ।

प्रमार्णाकरण सिद्धांत के विभिन्न पक्षों पर यदि विचार किया जाए तो अनेकानेक समस्यापूर्ण प्रश्न किये जा सकते हैं जिनका कोई समुचित उत्तर मिलना संभव नहीं हो सकता । यदि एयर के विचार का ही समर्थन करते हुए यही प्रश्न किया जाए कि प्रमार्णाकरण तो स्वयं न कोई आनुभविक प्राक्कल्पना है न पुनरुक्ति तो फिर इसमें क्यों विश्वास किया जाए ? इसका कोई तर्कसंगत उत्तर मिलना कठिन होगा । यही कारण है कि स्वयं प्रत्यक्षवादी विचारक भी इसे वाक्यों के अर्थ निर्धारण के लिए कोई सिद्ध

22.. Cf. Moritz schlick's '*Meaning and Verification*', 'The child was naked, but wore a long white nightgown', sec, III,p. 265.

प्रमाण के रूप में स्वीकार करने मे हिचकते हैं । कार्नप[23] ने तो प्रमाणीकरण का परीक्षात्मक रूप दिया है जिसके आधार पर किसी प्रतिज्ञप्ति की तथ्यात्मकता साक्षात् या असाक्षात् रूप मे सिद्ध हो सकती है और इस प्रकार इस सिद्धांत को सरल बनाने का प्रयास किया गया है । अतः इनके अनुसार केवल मूल कथनों की ही साक्षात् परीक्षा हो सकती है, किन्तु अन्य सभी प्रतिज्ञप्तियों की केवल असाक्षात् परीक्षा संभव है । उदाहरणार्थ - कोई एक वाचक वाक्य - 'यह कुंजी लोहे की बनी है', इसकी परीक्षा असाक्षात् रूप में इस बात से हो जाती है कि यदि अन्य लोहे की धातुओं की तरह यह भी लोहचुंम्बक के द्वारा आकर्षित होती हो, तो यह प्रमाणित होता है कि 'यह कुंजी लोहे की बनी है' ।

प्रत्यक्षवादी दृष्टि से तत्वमीमांसीय कथनों की निरर्थकता कैसे सुलभ विधि से प्रमाणित की जा सकती है यही ध्यान यहां विशेष रूप से रखा गया है । किन्तु यह कहां तक सफल होगा कहना कठिन है । निष्कर्ष यह कि प्रमाणीकरण सिद्धांत एक प्रस्ताव के रूप में लिया जाना अपेक्षाकृत अधिक न्यायसंगत कहा जा सकता है । यह ठीक है कि किसी तथ्ययात्मक वाक्य की रचना में इस सिद्धांत का अनुसरण महत्वपूर्ण माना जा सकता है और कोई तर्कनिष्ट प्रत्यक्षवादी विचारक इस क्रिया विधि के प्रयोग से तत्वमीमांसीय वाक्यों का खंडन कर सकता है । वस्तुतः किसी विचार विमर्श के संदर्भ में या तो कोई वैज्ञानिक अन्वेषण की बात हो या गणितीय तथ्य की या अन्य किसी तर्क संगत विषय की, ऐसी दशा में किसी भाषा या वाक्य के प्रयोग में प्रमाणीकरण एक विशेष प्रतिबन्ध के रूप में लिया जाना अधिक उपयुक्त जान पड़ता है ।

---

23. Cf. Carnap. R.. *'Logical Syntax of Language'*. New york,: Hartcourt. Brace. 1937.

एयर के सत्यापन सिद्धान्त का विकास

तर्किक प्रत्यक्षवादियों का एक मुख्य काम तत्वमींमांसा को अस्वीकारना है। परन्तु, उनकी मौलिकता इस अस्वीकरण के लिए ऐसी युक्ति का व्यावहार करने में है जिसे इनके पूर्व किसी ने भी व्यवहार नहीं किया है। तत्वमींमांसा की असम्भावना सिद्ध करने के लिए 'कथनीय के स्वरूप' को, इन लोगों ने, युक्ति बनायी है। इनका अभियोग है कि तत्वमींमांसक भाषा के उन नियमों का पालन नहीं करते जिनका पालन, अक्षरशः सत्य होने के लिए, प्रत्येक कथन को अवश्य करना चाहिए। एयर के अर्थ सिद्धांत का उद्देश्य भाषा की सार्थकता के इसी निकष को उपस्थित करना है।

अन्य तर्किक प्रत्यक्षवादियों की तरह एयर भी वाक्यों का दो भेद - **पुनरुक्तियां तथा आनुभविक वाक्य** - मानते हैं। वे मानतें हैं कि पुनरुक्त वाक्यों का अर्थ उनके रचक शब्दों के अर्थ तथा संबंधों पर निर्भर करता है। उदाहरणार्थ, 'लाल कलम लाल है' वाक्य का अर्थ इस वाक्य के रचक शब्दों 'लाल', 'कलम' तथा 'है' - के अर्थ एवं उनके क्रम विशेष पर निर्भर करता है। ऐसे वाक्यों के सत्यता-मूल्य के निर्धारण के लिए आनुभविक प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती है। इसीसे ऐसे वाक्य अपने अर्थनिर्धारण में कोई समस्या उपस्थित नहीं करते। अतः अर्थ के सत्यापन सिद्धांत का उद्देश्य उन शर्तो को उपस्थित करना है जिन्हें, मात्र आनुभविक वाक्यों को सार्थक होने के लिए, पूरा करना आवश्यक है।

एयर का मत है कि किसी वाक्य को सार्थक होने के लिए या तो विश्लेषात्मक होना चाहिए या आनुभविक सत्यापन योग्य। किसी भी न-विश्लेषात्मक वाक्य के किसी व्यक्ति विशेष के लिए सार्थक होने का अर्थ है कि वह इस वाक्य द्वारा अभिव्यक्त प्रतिज्ञप्ति को कैसे सत्यापित किया जाए, जानता है। अर्थात, उसे उन प्रेक्षणों का ज्ञान है जिनका किसी परिस्थिति विशेष में होना उस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता या असत्यता को जानने

के लिए आवश्यक है । मानलें कि व एक वाक्य है जो प प्रतिज्ञप्ति को अभिव्यक्त करता है । अब किसी व्यक्ति विशेष के लिए व तभी सार्थक होगा जब उसे ज्ञान हो कि किस प्रकार के आनुभविक प्रमाण प को सत्य या असत्य घोषित करने के लिए आवश्यक हैं । परन्तु, यदि उसे उन शर्तों का ज्ञान नहीं हो जिनके पूरा होने पर उस वाक्य को सत्य या असत्य स्वीकारा जा सकता हो तो उसके लिए यह वाक्य सार्थक नहीं होगा ।

प्रश्नार्थक वाक्यों के लिए भी यह बात एक प्रकार से सत्य है । किसी व्यक्ति के लिए कोई प्रश्नात्मक वाक्य व, जिससे प्रश्न प अभिव्यक्त होता है, तभी सार्थक होगा जब उस व्यक्ति को उन प्रेक्षणों का ज्ञान हो जिनके घटित होने पर वह उस प्रश्न का उत्तर सकारात्मक या नकारात्मक दे सके । यदि वह उन प्रेक्षणात्मक प्रतिबंधों को नहीं जानता हो तो व, कम से कम उसके लिए, सार्थक नहीं होगा ।

एयर सत्यापन के संप्रत्यय की व्याख्या इस प्रकार करते हैं । वे पहले **व्यावहारिक सत्यापन तथा सैद्धान्तिक सत्यापन** में भेद करते हैं । व्यावहारिक सत्यापन को वास्तविक या आनुभविक सत्यापन भी कहा जाता है। इसी प्रकार सैद्धांतिक सत्यापन को कभी-कभी तर्कीय या काल्पनिक सत्यापन भी कहा जाता है । ऐसी अनेक प्रतिज्ञप्तियां हैं जिनका व्यक्ति वास्तविक सत्यापन कर सकता है । हाँ, उसमें कभी-कभी बहुत कठिनाई हो सकती है । 'उस कोठरी में एक मेज है' वाक्य का वास्वतिक सत्यापन हो सकता है, यदि कोई व्यक्ति उस कोठरी मे जाए तथा देखे कि उस में मेज है या नहीं । ऐसे सत्यापन व्यावहारिक सत्यापन कहलाते हैं । किन्तु, ऐसी भी प्रतिज्ञप्तियां है, जिनकें सत्यता-मूल्य का व्यावहारिक सत्यापन, समुचित प्राविधिक उपकरणों एवं अनुकूल परिस्थितियों के अभाव में, सम्भव नहीं है; उदाहरणार्थ 'कुछ मनुष्य मंगल ग्रह पर है' । परन्तु हमलोग उन प्राविधिक उपकरणों एवं अनुकूल परिस्थितियों की कल्पना अवश्य कर सकते हैं जिनकी

उपलब्धि पर ऐसी प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता या असत्यता का निर्धारण हो सकता है । एयर का कहना है कि ऐसी प्रतिज्ञप्तियां व्यवहार में सत्यापनीय नहीं हैं परन्तु उनका सत्यापन सिद्धान्ततः सम्भव है, अतः वे सार्थक हैं ।

वे **सबल एवं निर्बल सत्यापन** में भी भेद करते हैं । यदि कोई प्रतिज्ञप्ति ऐसी है जिसकी सत्यता या असत्यता को निश्चितरूप से सिद्ध किया जा सके तो वह 'सत्यापन' के सबल अर्थ में सत्यापनीय है । दूसरी ओर यदि किसी प्रतिज्ञप्ति का सत्यापन उसकी सत्यता या असत्यता को केवल सम्भाव्य प्रमाणित कर पाती है, तो वह निर्बल सत्यापन का उदाहरण होगा । एयर जब कहते हैं कि यदि कोई प्रतिज्ञप्ति सार्थक है तो वह अवश्य सत्यापन योग्य है, तब वे 'सत्यापन' शब्द का व्यवहार इसी निर्बल अर्थ में करते हैं । क्योंकि, यदि निर्णायक सत्यापन को सार्थकता के निकष के रूप में अपनाया जाए तो नियमसूचक सभी सामान्य प्रतिज्ञप्तियों को, जैसे 'संखिया विषैला है', 'सभी मनुष्य मरणशील हैं', 'गरमाने पर पिंड फैलता है' निरर्थक करार देना होगा । यह तो इस प्रकार की प्रतिज्ञप्तियों के स्वरूप में है कि प्रेक्षणों की सीमित संख्या के बल पर उनकी सत्यता निर्णायक रूप से प्रमाणित नहीं की जा सकती है। केवल ये ही नहीं भूत एवं भविष्य विषयक सभी प्रतिज्ञप्तियां भी अर्थहीन बन जायेंगी, क्योंकि उनकी सत्यता उच्च सम्भावना से अधिक नहीं हो सकती ।

इस मत को और अधिक स्पष्ट करने के लिए एयर अपने सिद्धांत का प्रतिपादन दूसरी तरह से करते हैं । वे कहते हैं कि यदि कोई प्रतिज्ञप्ति वास्तविक या सम्भव प्रेक्षणों का अंकन करती है तो वह प्रतिज्ञप्ति प्रायोगिक प्रतिज्ञप्ति कहला सकती है०। इनके मतानुसार किसी प्रतिज्ञप्ति की ताथ्यिक सार्थकता के लिए या उसकी यर्थाथ प्रतिज्ञप्ति होने के लिए यह आवश्यक नहीं है कि वह एक या अधिक प्रायोगिक प्रतिज्ञप्तियों के समान हो । इसके लिए यही पर्याप्त होगा कि कोई प्रयोगिक प्रतिज्ञप्ति उस और

दूसरे आधार वाक्यों के संयोग से व्युत्पन्न हो, जो केवल उन दूसरे आधार वाक्यों से ही व्युत्पाद्य न हो। उदाहरण के लिए, 'जो संखिया खाता है वह मर जाता है' प्रतिज्ञप्ति को यथार्थ प्रतिज्ञप्ति कहा जा सकता है, क्योंकि उस प्रतिज्ञप्ति से एक दूसरा आधार वाक्य 'इस व्यक्ति ने संखिया खाया' जोड़ने से 'यह व्यक्ति मर जाता है' प्रायोगिक प्रतिज्ञप्ति व्युत्पन्न हो सकती है। एयर, निर्णायक सत्यापन की अपेक्षा इस निकष को उदार मानते हैं। यह साफ ढंग से सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्तियों को एवं भूत तथा भविष्य विषयक प्रतिज्ञप्तियों को सार्थक एवं यथार्थ मानता है।

परन्तु एयर के सत्यापन सिद्धांत का यह प्रतिपादन बहुत अधिक उदार सिद्ध होता है। यह 'ब्रह्म पूर्ण है' जैसे वाक्य को भी सार्थक मान लेता है। 'यदि ब्रह्म पूर्ण है तो यह कलम लाल है' प्रतिज्ञप्ति के संयोग में 'ब्रह्म पूर्ण है' प्रतिज्ञप्ति प्रक्षेण वाक्य 'यह कलम लाल है' को अनुलग्न करता है। इस प्रकार 'ब्रह्म पूर्ण है' वाक्य सार्थक बन जाता है। इस प्रकार की कठिनाइयों से बचने के लिए वे सार्थकता के निकष का फिर से प्रतिपादन करते हैं। वे प्रत्यक्ष सत्यापनीय एवं अप्रत्यक्ष सत्यापनीय कथनों में भेद करते हैं। इनका कहना है कि वह कथन प्रत्यक्ष सत्यापनीय है जो (1) या तो स्वयं प्रेक्षण कथन हों या (2) जो एक या अधिक प्रेक्षण कथनों के संयोग से कम से कम एक ऐसे प्रक्षेण कथन को अनुलग्न करता हो, जो केवल इन दूसरे कथन या कथनों से अनुलग्न के द्वारा हो। दूसरी ओर वह है जो दूसरे एक या अधिक संश्लेषात्मक या स्वतंत्र रूप से सत्यापनीय स्वीकृत होने योग्य कथन या कथनों के साथ मिलकर कम से कम एक या अधिक ऐसे प्रत्यक्ष सत्यापनीय कथन या कथनों को अनुलग्न करता हो जो केवल इन दूसरे कथनों से ही निगम्य न हो। किसी न-विश्लेषात्मक कथन के अक्षरशः सार्थक होने के लिए उस कथन को या तो प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रीति से सत्यापनीय होना चाहिए।

एयर के अर्थ सिद्धांत के संबंध में कई आपत्तियां की गई हैं । इस सिद्धांत को सरल रूप में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है : 'कोई वाक्य अक्षरशः सार्थक है यदि, और केवल यदि, वह प्रतिज्ञप्ति जिसे यह वाक्य अभिव्यंजित करता है, या तो संश्लेषात्मक है य अनुभव द्वारा सत्यापनीय ।' इस पर लाजेरों विज आपत्ति करते हैं कि कोई भी वाक्य बिना सार्थक हुए किसी प्रतिज्ञप्ति को अभिव्यंजित ही नहीं कर सकता, क्योंकि सभी प्रतिज्ञप्तियां या तो सत्य होती हैं या असत्य । और यदि कोई वाक्य, जिसे अभिव्यक्त करता है वह सत्य या असत्य हो सकता है तो वह वाक्य सत्यापनीय है, अतः सार्थक है । लाजेरोविज इस सिद्धांत में दो दोष निकालते हैं । पहला, यह अपूर्ण है क्योंकि यह उन वाक्यों पर प्रयोज्य नहीं है जिनसे कोई प्रतिज्ञप्ति अभिव्यक्त नहीं होती; दूसरा, जिन वाक्यों पर यह निकष प्रयोज्य हैं, उन्हें इनके उपयोग की आवश्यकता ही नहीं होती, क्योंकि जैसे ही यह स्वीकार कर लिया जाता है कि कोई वाक्यविशेष किसी प्रतिज्ञप्ति को अभिव्यक्त करता है वैसे ही यह ज्ञात हो जाता है कि यह वाक्य सार्थक है ।

इस आपत्ति को दूर करने के लिए एयर इस निकष के प्रतिपादन में एक नया शब्द कथन जोड़ते है एवं उसका व्यवहार पारिभषिक अर्थ (टेकनिकल सेन्स) में करते है । वे व्याकरण के वाक्य रचनासंबंधी नियम द्वारा अनुज्ञेय (परमिस्सिबल) शब्दों के किसी भी संगठन को वाक्य मानते हैं। वे यह भी मानते हैं कि दो वाक्य परस्पर अनुवाद्य हैं तो वे एक ही कथन का अभिव्यंजन करते हैं । 'कथन' शब्द को सार्थकता के निकष के प्रतिनपादन में जोड़ने पर वे 'प्रतिज्ञप्ति' शब्द को उस अक्षरशः अर्थ के लिये प्रयुक्त करते है जिसे सार्थक वाक्य अभिव्यक्त करते है । इस प्रकार प्रतिज्ञापितो का वर्ग कथनों के वर्ग का उपवर्ग बन जाता है । वे अब सार्थकता के निकष का प्रतिनादन इन शब्दो में करते हैं : कोई वाक्य

सार्थक है यदि और केवल यदि, जो कथन इसके द्वारा अभिव्यक्त होता है वह या तो विश्लेषात्मक है या अनुभव द्वारा सत्यापनिय । लाजेरोविज द्वारा उठाई गई प्राविधिक आपन्ति को एयर कथन शब्द को जोड़ कर एवं उपयुक्त रीति से सार्थकता के निकष का प्रतिपादन कर सफलता पूर्वक दूर करते हैं ।

लाजेरोविज एयर के 'निर्वल' एवं 'सवल' सत्यापन के पृथक्करण का भी विरोध करते हैं । इनका कहना है कि एयर जब स्वयं ही मानते है कि सभी अनुभविक प्रतिज्ञाप्तियों का केवल निर्वल सत्यापन ही सम्भव है तो ऐसी स्थिति में निर्वल एवं सवल सत्यापन के पृथक्करण का कोई अर्थ नहीं लगता ।

इस विरोध को दूर करने के लिए एयर अपने मत में कुछ परिवर्तन करते हैं तथा कहते है कि सभी प्रतिज्ञप्तियों का निर्वल सत्यापन ही नहीं होता है । निर्वल सत्यापन केवल न मूल-प्रतिज्ञाप्तियों का ही होता है । मूल-प्रतिज्ञप्तियो का सवल सत्यपन होता है । वे 'मूल-प्रतिज्ञप्ति' शब्द का प्रयोग सीधे अभिलिखित तात्कालिक अनुभूति के अर्थ में करते हैं । उनका कहना है कि मूल-प्रतिज्ञप्ति की यह विशेषता है कि यह केवल एक अनुभूति के अर्न्तवस्तु का निर्देश करती है तथा यह ऐसी अनुभूति के घटित होने का अनन्य निर्देश है जो उसे निश्चित रूप से सत्यापित करती है । इस प्रकार मूल प्रतिज्ञप्ति के संप्रत्यय को जोड़कर वे निर्बल एवं सबल सत्यापन के भेद को बनाए रखते है ।

यहाँ अपका ध्यान इस वात की ओर आकर्प्ति कर देना अनुपयुक्त नहीं होगा कि एयर यह स्वीकारते है कि 'अर्थ' शब्द का प्रयोग विभिन्न प्रकार से होता है तथा इनसे कुछ प्रयोगो में उन वाक्यो को भी सार्थक कहा जा सकता है जो न विशलैषत्मक है, न अनुभव द्वारा सत्यापनीय। परन्तु उनके अनुसार 'अर्थ' शब्द का एक ऐसा भी प्रयोग है जिसके अनुसार किसी

वाक्य को तव तक सार्थक नही कहा जायेगा जव तक कि सात्यापन सिद्धान्त के अनुरूप न हो । अर्थ शव्द के ऐसे प्रयोग को उसके दूसरे प्रकार के प्रयोगो से अलग करने के लिए, एयर शव्दशः (अक्षरशः) अर्थ की संज्ञा देते है । तथा उन न-विश्लेषात्मक वाक्यो के अर्थ को जो उनके सात्यापन निकष पर सार्थक है वे 'ताथ्यिक अर्थ' की संज्ञा देते है। उनका कहना है कि कोई भी वाक्य सत्य या असत्य यथार्थ में केवल तभी कहला सकता है जव वह उसी अर्थ में सार्थक हो ।

वे सत्यापन सिद्धान्त को आनुभविक प्राक्कल्पना नही मानते है । वे उसे सार्थकता की परिभाषा मानते है, परन्तु मनमानी परिभाषा नही । वे स्वीकारते है कि जो लोग सार्थकता के उस निकष से असहमत है वे सार्थकता को दूसरी तरह से परिभाषित कर सकते है, तथा वाक्य की वह सार्थकता भी 'अर्थ' शव्द के विभिन्न सामान्य प्रयोगो में से किसी एक के अनुरूप हो सकती है । यदि कोई वाक्य इन लोगो की नई नई परिभाषा के अनुसार सार्थक है तो निःसदेह 'समझना' शव्द का भी वैसा उचित प्रयोग होगा जिसमें यह सयझे जाने योग्य है । परन्तु जब तक कोई वाक्य सत्यापन निकष की शर्तो को पूरा नही करता, तब तक उसे 'समझना' के उसी अर्थ मे नही समझा जा सकता है जिसमें वैज्ञानिक प्रक्कल्पनाओं या सामान्य बुद्धि के कथनो को समझा जाता है ।

समर्थ दार्शनिकों ने इस अर्थ-सिद्धान्त की इतनी आलोचना की है कि आजकल कोई दार्शनिक इसे वरिक्षणीय भी नही मानते है । फिर भी मै यहाँ अपनी कुछ आपत्तियो को उल्लेख करूगा जिन्हे मेरी जानकारी मे, इसी रूप में पहले प्रस्तुत नही किया गया है साथ ही मै इस सिद्धान्त से सम्वद्ध अपनी कुछ जिज्ञासाओं का उल्लेख करूँगा ।

एयर स्वीकारते है कि सत्यापन सिद्धान्त केवल न-विश्लेषात्मक निश्चयार्थक वाक्यो की सार्थकता का एक निकष प्रस्तुत करता है । परन्तु

वास्तव में यह सिद्धान्त उतना भी नही कर पाता है । सभी निश्चयार्थक वाक्यो की सार्थकता के निकष के रूप में भी इस सिद्धान्त का प्रयोग नही किया जा सकता है । व्यकरणिक दृष्टि से निश्चायर्थक वाक्यो को तीन भेद, उनके कहे जाने के ढंग पर, किया जा सकता है । एक अनिर्वय, जैसे 'बगलादेश अवश्य स्वतंत्र होगा' । दो, प्रकृत जैसे 'बंगलादेश स्वतंत्र होगा' तथा संदिग्ध, जैसे 'बगलादेश शायद स्वतंत्र होगा' अव सर्थकता के इस निकष को मानने पर अनिवार्य सत्यापन के लिए इनके अनुकूल अनिवार्य तथ्य की खोज संसार में करनी होगी । इसी प्रकार संदिग्ध वाक्यो के सात्यापन के लिए संदिग्ध तथ्यो की खोज करनी होगी । परन्तु तथ्य तो एक ही प्रकार के होते है, अर्थात यार्थथ या विद्यमान तथ्य (यहाँ 'यथार्थ' एवं 'विद्यमान' दोनो ही शब्द स्पष्टतः अनावश्यक है) । कोई भी तथ्य अनिवार्य यया असंदिग्द नही होता है । ऐसी स्थिति में अनिवार्य एवं संदग्दि वाक्यो के लिए सत्यापन सिद्धान्त अक्षम हो जाता है ।

लाजेरोविज की आपत्ति का निवारण भी एयर, अपने सत्यापन सिद्धान्त के प्रतिपादन में 'प्रतिज्ञप्ति' शब्द के 'कथन' शब्द से वदल कर, केवल प्राविधिक रूप मे ही कर पाते है । क्योकि कोई भी वाक्य जो किसी कथन को अभिव्यक्त कर सकता है अवश्य ही सार्थक होगा । 'अभिव्यक्त करना', शब्द का अर्थ ही होता है 'प्रकट करना', 'स्पष्ट करना' । कोई वाक्य विना सार्थक हुए किसी वस्तु को प्रकट करने की क्रिया या किसी वात को स्पष्ट करने प्राक्रिया सम्पन्न ही नही कर सकता है । 'मेरा द्विचक्रयान लड़ाई पढ़ाता है' जैसा निरर्थक वाक्य कुछ भी अभिव्यक्त नही कर पाता है । अतः किसी व्यक्ति का यह स्वीकारना कि कोई वाक्य विशेष किसी कथन को अभिव्यक्त करता है उसके उस वाक्य को (उसकी सत्यता या असत्यता की जाँच की विधि के विचार के पूर्व ही) सार्थक स्वीकारने के

समान है । इस प्रकार हम पाते है कि एयर लाजेरोविज की आपत्ति का यार्थत रूप में निवारण नही कर पाये है ।

एयर कहते हैं कि कोई वाक्य किसी व्यक्ति के लिए तभी और केवल तभी सार्थक होगा जब वह जानता है कि किन आनुभविक प्रमाणों के बल पर वह कथन प को, जिसे यह वाक्य व अभिव्यक्त करता है सत्य या असत्य स्वीकार सकेगा। परन्तु यदि कोई व्यक्ति वाक्य व का अर्थ नहीं जानता हो, तो वह यह भी नहीं जान सकेगा कि कथन प इस वाक्य द्वारा अभिव्यक्त होता है और यदि कोई व्यक्ति व का अर्थ जानता हो, तो उसके लिए व सार्थक है या निरर्थक निर्णय करने के लिए प की सत्यापन विधि को जानना अनावश्य है, क्योंकि वह तो पहले से ही जानता है कि व सार्थक है । अतः उस व्यक्ति के लिए सत्यापन निकष बेकार है । यहां मैं आपका ध्यान इस ओर दिलाना चाहूँगा कि किसी वाकय का अर्थ समझना तथा उसकी सत्यापन विधि जानना दो बातें हैं, एक नहीं । किसी वाक्य के सत्यापन विधि को, बिना उस वाक्य का अर्थ समझे, नहीं जाना जा सकता है, जब कि किसी वाक्य के अर्थ को समझने पर भी उसकी सत्यापन विधि को व्यकि जाने ही यह आवश्यक नहीं है। यदि सड़क पर जाते हुए किसी सामान्य व्यक्ति से हम कहें कि 'बन्दर मनुष्य का पूर्वज है' तो उसे इस वाक्य के शाब्दिक अर्थ को समझने में कोई कठिनाई नहीं होगी; परन्तु यदि उससे हम यह पूछें कि इस वाक्य का सत्यापन कैसे होगा, तो वह शायद ही बता पायेगा । इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि एयर का यह कहना कि किसी वाक्य का अर्थ जानना उस वाकय की सत्यापन विधि जानना है, सार्थकता की मनमानी परिभाषा है, यर्थाथ (वर्णनात्मक) परिभाषा है ।

एयर वाक्यों का विश्लेषत्मक एवं संश्लेषात्मक वर्गीकरण को अनम्य मानतें हैं । उनका विश्वास है कि प्रत्येक वाक्य को इनमें सके किसी एक

वर्ग में रखा जा सकता है । वे इस वर्गीकरण को अपने निकष के एक अभ्युपगम की नाई प्रयोग करते हैं । परन्तु डब्लू. वि. क्वाइन, एम. जी. ह्वाइट तथा एन. गुडमेन सदृश तार्किक का मत है कि वाक्यों का ऐसा वर्गीकरण अमान्य है। विश्लेषात्मक वाक्यों के विधेय एवं उद्देश्स संप्रत्ययों के संबंध में माना जाता है कि विधेय संप्रत्यय उद्देश्य संप्रत्यय का एक अंश होता है । समझा जाता है कि विश्लेषात्मक वाक्यों द्वारा कोई तथ्यात्मक सूचना नहीं मिलती है, अतः उन वाक्यों की सत्यता तथ्य पर निर्भर नहीं होती तथा उनका नकारना स्वतोव्याघात उत्पन्न नहीं करता है। यहां एक उदाहरण द्वारा मैं भी यह दिखाने का प्रयास करूँगा कि विश्लेषात्मक एवं संश्लेषत्मक वाक्यों का वर्गीकरण उतना अनम्य नहीं है जितना एयर मानते हैं । 'बेटी बेटी ही है' वाक्य के प्रयोग से अनुलाग का संबंध समझाा जा सकता है, और यदि हम अपना ध्यान इसके वाक्योय आकार पर ही केन्द्रित रखें तो लगेगा कि इसका प्रयोग बराबर ऐसे ही होता है । परन्तु 'बेटी बेटी ही है' वाक्य के कुछ ऐसे भी प्रयोग हैं जिससे तार्किक निहितार्थ का बोध नहीं होता है । जब कोई व्यक्ति अपनी बेटी को बहुत अधिक प्यार करता हो एवं बराबर अपने पास रखता हो, तो उसकी 'बेटी-बेटी ही है' कहकर, उसका कोई सगासंबंधी याद दिला सकता है कि बेटी शादी के बाद अपने पति के घर चली जाती है इसलिए उससे इतना अधिक आसक्ति अच्छी नहीं । ऐसे संदर्भ में यह वाक्य तथ्यात्मक वर्ण-विषय रहित नहीं रहता है तथा इसके अस्वीकरण से भी स्वतोव्याघात उत्पन्न नहीं होता। अपने तार्किक आचरण में यह वाक्य 'बेटी पराये घर चली जाने वाली प्राणी है तथा अधिक आशक्ति के योग्य नही है' वाक्य के समान है । ऐसे संदर्भो में प्रयुक्त होने पर इसकी सत्यता मूल्य निर्धारण मानव व्यवहार एवं मूल्यों के आधार पर होगा । इस प्राकर विश्लेषात्मक वाक्यों का आकार पाने पर भी, ऐसे प्रयोगों में, यह वाक्य विश्लेषात्मक नहीं रह पाता है ।

इसी से सामान्य बोलचाल की भाषा के किसी वाक्य का केवल वाक्योय आकार को देखकर या उसके वाक्य रचना संबंधी उन नियमों पर ध्यान देकर जो इसके प्रयोगों का नियंत्रण करती है, नहीं कहा जा सकता कि कोई वाक्य-विशेष विश्लेषत्क है या नही । अब यदि विश्लेषत्मक एवं संश्लेषत्क वाक्यों के भेद को अनम्य नहीं माना जाए तो बिना किसी वाक्य का अर्थ समझे यही जान पाना कठिन होगा कि उस पर सत्यापन निकष प्रयोज्य है या नहीं । ऐसी स्थिति में यह निकष अनावश्यक सिद्ध होता है।

एक बात और । एयर कहते हैं कि विश्लेषात्मक वाक्यों का मूल्य-निर्धारण उनमें प्रयुक्त शब्दों के अर्थ एवं क्रम पर निर्भर करता है। इसका अर्थ हुआ कि शब्दों का अर्थ वाक्य निरपेक्ष होता है ऐसा वे मानते हैं । अब यदि शब्दों का अर्थ वाक्य निरपेक्ष होता है तो फिर संश्लेषात्मक वाक्यों का अर्थ उनके रचक शब्दों के अर्थ एवं क्रम पर निर्भर क्यों नहीं करता है ? शब्दार्थ एवं वाक्यार्थ में क्या सम्बन्ध है ? विश्लेषात्मक एवं संश्लेषात्मक वाक्यों में प्रयुक्त शब्दों के स्वरूप में क्या अन्तर है ? ये कुछ प्रश्न किसी भी अर्थ-सिद्धांत के विवेचन के समय उठते हैं, परन्तु एयर ने अपने सत्यापन सिद्धांत के विवेचन के समय इन प्रश्नों कासत्यापन सिद्धांत के संदर्भ में उत्तर नहीं मिल पाता है ।

ए. जे. एयर की तत्वमीमांसा–विरोधी युक्तियाँ

बर्कले एवं डेविड ह्यूम के अनुभववाद, तार्किक भाववाद, आगडेन एवं रिचार्ड के नैतिक मूल्य संबंधी विचार एवं बर्ट्रेन्ड रसेल के वैज्ञानिक सिद्धांतों ने नीतिशास्त्र के संबंध में चले आ रहे परम्परावादी विचारों को एक जबर्दस्त झटका दिया । इन्हीं क्रांतिकारी विचारों का स्वर ए.जे.एयर की पुस्तक ''लैंग्वेज, ट्रुथ लॉजिक'' में और ज्यादा मुखर हो उठता है । जो विचारधाराएं उन पूर्ववर्ती चिन्तकों एवं चिन्तन धाराओं द्वारा अनुस्यूत हुई थीं, उनको तार्किक, स्पष्ट एवं सुनिश्चित रूप देने तथा एक सिद्धान्त के अन्दर बांधने का योजनाबद्ध प्रयत्न सर्वप्रथम एयर ने अपनी इस पुस्तक में किया। यद्यपि नीतिशास्त्र के सम्बन्ध में एयर के विचार अति संक्षिप्त हैं, और यह भी सच है कि एयर के निष्कर्ष साफ एवं स्पष्ट हैं तथा संक्षिप्तता भी अनेक सम्भावनाओं से युक्त हैं, जिन्होनें परवर्ती समकालीन चिन्तकों के लिए आधार-भूमि का काम किया ।

एयर ने अपनी पुस्तक **'भाषा, सत्य एवं तर्कशास्त्र'** के 'नीतिशास्त्र एवं ईश्वर विज्ञान की समीक्षा' नामक छठें अध्याय में यह प्रयत्न किया है कि मूल्य संबंधी निर्णयों की इस प्रकार की व्याख्या प्रस्तुत करे जो सामान्य अनुभव-वादी सिद्धांतों के साथ संगति एवं संवाद रखती हो ।

एयर का निष्कर्ष है कि सामान्य सत्यापन सिद्धांत के अनुसार मूल्य संबंधी निर्णय निरर्थक हैं । चूंकि ये निरर्थक है, अतः, इनके सत्य असत्य होने का प्रश्न ही नहीं उठता । इसे थोड़ा विस्तार से समझना होगा ।

एयर के अनुसार सार्थक वाक्य या तो विश्लेषात्मक होगा या इन्द्रियानुभवाश्रित । प्रथम तरह के वाक्य आकारिक एवं अनिवार्य रूप से सत्य होते हैं किन्तु इनका वस्तुजगत से संवाद नहीं होता । दूसरे तरह के वाक्य विषय जगत से संबंधित होते हैं । इस तरह के वाक्य निश्चित रूप से सत्य नहीं होते ज्यादा से ज्यादा संभाव्य होते हैं । चूंकि ये निश्चित रूप

से सत्य नहीं होते. अतः, ये अपनी सत्यता के लिए अनुभव जगत पर आश्रित होते हैं । गणित एवं तर्कशास्त्र के वाक्य तथा संकेतों की परिभाषाएं विश्लेषात्मक प्रकार के उदाहरण हैं तथा आनुभाविक विज्ञान एवं सामान्य जीवन के वाक्य इन्द्रियानुभवाश्रित प्रकार के उदाहरण हैं ।

यहां एक प्रश्न उठ खड़ा होता है कि नीति शास्त्र के वाक्य जिसके अन्दर 'औचित्य', अनोचित्य' 'शुभत्व' 'अशभत्व' का निर्णय देते हैं - किस कोटि में आते हैं ? स्पष्टतया इस तरह के वाक्य विश्लेषात्मक वाक्य नहीं हैं । विश्लेषात्मक वाक्यों के विधेय उनके उद्देश्य की गुणवाचकता को दुहराते हैं । नैतिक निर्णय संबंधी वाक्यों में ऐसी बात नहीं होती । जब हम कहते हैं कि 'शराब पीना बुरा है', तो इसके विधेय का कथन 'पीना बुरा है' इसके उद्देश्य 'शराब पीना' में ही अंतर्निहित नहीं है । फिर इस तरह के वाक्य शाश्वत रूप मे सत्य भी नहीं हैं । इसके साथ ही साथ इस तरह के वाक्य इन्द्रियानुभवाश्रित भी नहीं कहे जा सकते क्योंकि - 'शुभत्व' एवं 'अशुभत्व' की धारणा ऐसी है कि इसे नाम एवं रूप में बांध कर आनुभविक रूप से परीक्षित भी नहीं कर सकते। इस तरह की धारणाओं का चाक्षुष, श्रोतज, घ्राणज, त्वक या रस किसी भी प्रकार प्रत्यक्ष द्वारा प्रमाणीकरण नहीं हो सकता है ।

यहाँ कुछ लोग कह सकते हैं कि यद्यपि इस तरह के वाक्य अपने आप में इन्द्रिय-परीक्षण-योग्य नहीं है फिर भी इन्हें विना इनके मौलिक भाव नष्ट किये इस तरह के वाक्यों में रूपायित किया जा सकता है कि इनका सत्यापन इन्द्रिय अनुभव के द्वारा किया जा सके । ऐसा करने पर वे इन्हें इन्द्रियानुभवाश्रित वाकयों की कोटि में रख कर सार्थ क बनाने की बात सोचते हैं ।

ऐसा कहने वालों में व्यक्तिनिष्ठवादी भी हो सकते हैं और उपयोगितावादी भी । व्यक्तिनिष्टवादियों के अनुसार 'उचित है' का अनुवाद

'सामान्यतया अनुमोदित है अथवा, 'वक्ता के द्वारा अनुमोदित हैं' हो सकता है। एयर का कहना है कि 'उचित है' एवं 'सामान्यतया अनुमोदित है' अथवा 'वक्ता के द्वारा अनुमोदित है' - दोनों एक ही नहीं हैं। ऐसा एक ही साथ कहा जा सकता है कि शराब पीने का अनुमोदन यद्यपि सामान्यतः सभी लोग करते हैं किन्तु 'यह उचित नहीं है' ऐसा कहने में कोई व्याघात नहीं होगा। उसी तरह ऐसा कहने में भी कोई व्याघात नहीं है कि -"मैं शराब पीने को अनुमोदित करता हूं यद्यपि यह उचित नहीं है।" यदि ये साथ-साथ कहे जा सकते हैं तो ऐसा कहना कि 'उचित' तथा 'अनुमोदित किया जाना' (चाहे वह वक्ता के द्वारा हो या सामान्यतया सबों के द्वारा)- दोनों एक ही है, ठीक नहीं है। अतः, कथन को उचित मानना और उसका अनुमोदन करना, दोनों एक नहीं हो सकता। इसलिए 'उचित' को 'अनुमोदन-भाव' में परिणत नहीं किया जा सकता है।

उपयोगितावादियों के अनुसार **'अधिकतम, लोगों का अधिकतम सुख'** पहुंचाने वाला कार्य तथा **'उचित कार्य'** दोनों एक ही हैं। किन्तु एयर का यहां भी पहले जैसा ही तर्क है कि ऐसा कहने में कोई व्याघात नहीं है अर्थात संगत रूप से कहा जा सकता है 'अमुक कार्य उचित नहीं है फिर भी इससे अधिकतम लोगों को अधिकतम सुख मिलेगा।'

इस प्रकार एयर के अनुसार नैतिक प्रत्ययों को आनुभविक पदों में परिणत करना संभव प्रतीत नहीं होता है।

इस तरह एयर ने निरपेक्षवादियों के विचारों को भी अमान्य कर दिया है। कुछ लोग कह सकते हैं कि नैतिक प्रत्ययों का ज्ञान साधारण इन्द्रिय प्रत्यक्षों द्वारा संभव नहीं है किन्तु उसका ज्ञान हम बौद्धिक अन्तः प्रज्ञा या प्रातिभ-ज्ञान (Intuition) के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं। एयर ने एक पक्के अनुभववादी होने के नाते इसे यह कह कर ठुकरा दिया कि इसे मानना तो आनुभविक सत्यापन सिद्धांत से दूर हटना होगा। वैसे वाक्य जो

विश्लेषात्मक नहीं हैं, सार्थक होने के लिए उन्हें अनुभवाश्रित होना ही पड़ेगा। किन्तु अन्तःप्रज्ञा जैसे रहस्यमय, अवैज्ञानिक तथा अपरोक्षणीय ज्ञान के स्रोत द्वारा स्थापित किसी भी वस्तु या प्रत्यय को मानना सामान्य अनुभववादी परंपरा से दूर जाना होगा । जाहिर है कि एयर जैसे विचारक के लिये जो तार्किक प्रत्यक्षवाद से अभिभूत हो, इसे स्वीकार करना कतई संभव नहीं है ।

और अंत में एयर ने अपना निर्णय यह कह कर दिया कि नैतिक प्रत्यय वस्तुतः प्रत्यय हैं ही नहीं-वे प्रत्ययाभास (Pseudo-concepts) हैं। किसी नैतिक निर्णयात्मक वाक्य में प्रयुक्त नैतिक संकेत वस्तुतः तथ्यात्मक ज्ञान की वृद्धि नहीं करते । उदाहरण के लिये जब हम कहते हैं कि 'रुपया चुरा कर आपने अनुचित किया' तो सिवा इस तथ्य कथन के कि 'आपने अनुचित किया है' हम मात्र अपनी नैतिक असहमति की भावना प्रकट करते हैं । 'आपने रुपया चुराया' यह सत्य है किन्तु ? यह अनुचित है' कोई तथ्यात्मक वाक्य नहीं है जिसके सत्य-असत्य होने का प्रश्न उठे **वस्तुतः मूल्यसंबंधी निर्णय न तो विश्लेषात्मक हैं और न तो इन्द्रियानुभवाश्रित ही** । अतः ये सार्थक प्रकथन होने से भी वंचित रह जाते । यदि कोई वाक्य सार्थक कथन से युक्त है ही नहीं तो उसके संबंध में सत्यता-असत्यता का प्रश्न ही नहीं उठता है ।

एयर ने यहां 'अभिव्यक्ति' एवं 'अभिव्यक्ति के कथन' के बीच के अन्तर को भी स्पष्ट किया है । कुछ लोग यह कह कर आपत्ति प्रकट कर सकते हैं, और जैसा कि **जार्ज एडवार्ड मूर** ने अपनी पुस्तक **'एथिक्स'** (तृतीय अध्याय) में प्रकट भी किया है, कि किसी वस्तु के उचित एवं अनुचित होने का अर्थ उसके प्रति अनुमोदन की अभिव्यक्ति, भावना या अभिवृत्ति, नहीं माना जा सकता, क्योंकि तब एक ही वस्तु दो व्यक्तियों के लिये एक ही समय उचित एवं अनुचित, अथवा यही क्यों, एक ही व्यक्ति

के लिए दो समयों में एक ही वस्तु उचित या अनुचित दोनों हो सकती है। किन्तु यदि हम एयर के विचार को ठीक रूप में समझें तो यह भ्रम जाता रहता है । **एयर** का कहना है कि **'भावों की अभिव्यक्ति' एवं 'भावों की अभिव्यक्ति का कथन का कथन या भाव संबधी सूचना' दोनों एक ही नहीं है** । दोनों के बीच अन्तर है । जब हम किसी भी वस्तु को उचित या अनुचित कहते हैं तो वहां हम मात्र नैतिक भावों को अभिव्यक्त करते हैं । वहाँ हम नैतिक भावों के बारे में 'वक्तव्य' नहीं देते । वस्तुतः भावों और संवेगों की अभिव्यक्ति में व्याघात का प्रश्न ही नहीं उठता । एयर ने यह भी स्पष्ट किया है कि किसी भी नैतिक पद का व्यवहार दो अर्थों में किया जा सकता है। जब उसका व्यवहार आदर्शमूलक या शुद्ध नैतिक रूप में किया जाता है तब उसका संबंध मात्र हमारे संवेगों की अभिव्यक्ति के और कुछ भी नहीं है । इस अर्थ में हम नैतिक पदों की परिभाषा भी नहीं दे सकते और न उसका विश्लेषण ही कर सकते हैं । किन्तु जब हम नैतिक पदों का प्रयोग वर्णनात्मक अर्थ में करते हैं तो इस हालत में, उसका विश्लेषण भी संभव है एवं उसकी परिभाषा भी दी जा सकती है । मूर ने हर हालत में नैतिक प्रत्ययों एवं पदों को अविश्लेष्य और इसीलिये अपरिभाष्य मान कर उन्हें परिभाषित करने की चेष्टा को प्रकृतिवाद के दोष से युक्त माना था। एयर ने वर्णनात्मक एवं आदर्शमूलक अर्थों में नैतिक पदों के प्रयोग में भिन्नता दिखाकर यह बतलाया है कि नैतिक पदों के आदर्शमूल व्यवहार में केवल संवेगवादी सिद्धांत को मानने के अतिरिक्त और कोई चारा नहीं दीख पड़ता ।

एयर के अनुसार भावों एवं संवेगों के नामों की परिभाषा हो सकती है क्योंकि ऐसा करते समय हम तथ्यात्मक कथन करते हैं । इसलिये वह सत्य या असत्य हो सकता है । किन्तु संवेगों की अभिव्यक्ति के साथ ऐसी बात नहीं है । जब हम नैतिक निर्णय देते हैं तब स्थिति कुछ ऐसी ही

होती हैं । अतः, मूर एवं एयर दोनों ने यद्यपि प्रकृतिवादी सिद्धांत का खण्डन किया किन्तु दोनों के लक्ष्य एवं उनकी स्थापनाएं भिन्न थीं । **मूर का उद्देश्य स्वतः शुभ की स्थापना करना था किन्तु एयर का लक्ष्य नैतिक-संवेग-सिद्धांत के लिये एक जमीन तैयार करना था ।**

एयर के अनुसार दर्शन का कार्य जैसा कि उन्होंने, अपनी पुस्तक 'भाषा, सत्य एवं तर्कशास्त्र' पुस्तक के प्राक्कथन में माना है, प्रयुक्त प्रतीकों को परिभाषित कर तथा उनके तार्किक संबंधों को दिखा कर विज्ञान के वाक्यों को स्पष्ट कार्यो को भी निर्धारित किया है । सर्वप्रथम एक नीति-दार्शनिक का कार्य यह दिखलाना है कि नैतिक वाक्य वैज्ञानिक वाक्य से भिन्न हैं और पुनः उनका कार्य प्रयुक्त पदों का विश्लेषण करना । नैतिक भाषा का विश्लेषण करना एयर के लिए और उसी कारण अन्य समान धर्मी समकालीन नैतिक चिंतकों के लिए नीति-दर्शन का प्रधान कार्य हो जाता है । एयर नीति दर्शन के कार्य के प्रति पूर्णरूपेण स्पष्ट हैं । नैतिक वाक्यों को वे चार वर्गो में वर्गीकृत करते हैं । सर्वप्रथम कुछ ऐसे वाक्य हैं जो नैतिक-पदों की 'परिभाषा' व्यक्त करते हैं । द्वितीयतः कुछ ऐसे वाक्य हैं जो 'नैतिक अनुभवों', को व्यक्त करते हैं । तृतीयतः कुछ उपदेशात्मक वाक्य हैं, और अन्ततः कुछ शुद्ध नैतिक निर्णय संबंधी-वाक्य हैं, जिसमें 'शुभ', 'अशुभ', 'उचित', अनुचित' आदि के संवंध में निर्णय दिये जाते हैं । एयर ने द्वितीय तरह के वाक्य को मनोविज्ञान का विषय बताया है एवं तीसरे तथा चौथे को संवेग एवं आदेश की संयुक्त अभिव्यक्ति माना है । इस आधार पर उनका कथन है कि सिर्फ प्रथम प्रकार के वाक्य, जिसमें नैमिक पदों की परिभाषायें निर्धारित की जाती हैं, ही नैतिक दर्शन के विषय कहे जा सकते हैं । इस प्रकार नीति-दर्शन का कार्य नैतिक पदों की परिभाषायें तथा प्रयुक्त पदों के विश्लेषण तक ही

सीमित हैं। नीति-दर्शन संबंधी भाषीय अभिरुचि तथा सूक्ष्म विश्लेषण ने काफी अरसे तक अमेरिकन तथा ब्रिटिश दार्शनिकों को व्यस्त रखा।

यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है कि एयर के नीति शास्त्रीय विवेचन ने बहुत लोगों को पक्ष या विपक्ष में कहनें को प्रेरित किया। जब कि परम्परावादी या दर्शन के तत्वशास्त्रीय पक्ष में विश्वास करने वाले लोगों ने धैर्य से समझने के बजाय अपनी तीखी प्रतिक्रिया जाहिर करना ही मुनासिब समझा, वहीं तार्किक प्रत्यक्षवादी विचारधारा से संबंध रखने वाले एक बहुत बड़े वर्ग ने उसको आधार मान कर इस सिद्धांत को ओर भी ज्यादा विकसित किया। 1939 में प्रकाशित पुस्तक **'फाउन्डेशन ऑफ एथिक्स'** में **विलियम डेविड रांस** ने तो यहां तक कह दिया कि संवेगवादी सिद्धांत ने तो नीतिशास्त्र की साख को ही समाप्त कर दिया है। उन्होंने इस अन्तर को नहीं समझा कि नीतिशास्त्र के संबंध में कुछ लेखकों की धज्जी उड़ाने का अर्थ नीतिशास्त्र की धज्जी उड़ाना ही नहीं होता है। ऐसा कहना कि नैतिक निर्णय संवेगों को व्यक्त करते हैं, यह सूचित नहीं करता कि सभी प्रकार के संवेग निषिद्ध हैं। **स्टीवेन्सन** ने ठीक ही कहा है कि "संवेगात्मक शब्द कोई अपकर्षी संवेग उत्पन्न नहीं करता।" हाँ, इतनी बात निश्चित है कि एयर ने पुरानी प्रतिष्ठित प्रतिमाओं का भंजन शुरू किया - लेकिन इसमें रॉस जैसे चितकों के लिए घबड़ाहट क्यों ? वे नीतिशास्त्र का तत्वशास्त्रीत्र भित्ति तैयार करते रहें। यही कारण है कि स्टीवेन्सन जैसे विचारकों ने संवेगवादी सिद्धांत को पुष्ट करने के लिये नीतिशास्त्र की भाषा पर एक पूरी पुस्तक ही लिखी एवं नीति-शास्त्रीय अर्थ का अपने ढंग से विश्लेषण प्रस्तुत किया। उन्होंने अपनी पुस्तक **'नीति और भाषा'** के बारहवें अध्याय में एयर का भरपूर समर्थन किया है तथा उनकी कुछ संक्षिप्त किन्तु सम्भावनाओं से युक्त निष्कर्षों एवं संकेतों को भी अपने ढंग से विकसित किया है। बाद में पेरी, प्रिचार्ड अर्मसन, हेअर

आदि ने भी नीति-दर्शन में भाषीय-अभिरूचि दिखाकर अपने-अपने ढंग से अपने-अपने सिद्धांतो को रखा ।

तत्वमीमांसा-संबंधी प्रो. ए. जे. एयर के विचार मौलिक नहीं हैं । एयर ने यह स्वीकार किया है कि विटगेन्सटाइन की रचना से उन्हें इस दिशा में प्रेरणा मिली है तथा तत्वमीमांसा के विरोध में उन्होंने जो तर्क दिये हैं वे प्रधानतः **मौरित्स शिलक** के लेख **'पॉजिटिविज्म ऐंड रियलिज्म'** और **रुडोल्फ कारनैप** के लेख **'दि एलिमिनेशन ऑफ मेटाफिजिक्स थ्रू लॉजिकल एनालिसिस ऑफ लैंग्वेज'** पर आधारित हैं। किन्तु एयर ने इसे अधिक स्पष्टया से प्रस्तुत किया है ।

तत्वमीमांसा की परिभाषा

प्रो. ए.जे. एयर के अनुसार अनुभवातीत सत्ता को वर्णित करने के प्रयास में आभासी-प्रतिज्ञप्तियां दी जाती हैं । आभासी-प्रतिज्ञप्तियों में शब्दों की ऐसी श्रृंखला होती है कि वे आपाततः वाक्य होने का भ्रम उपस्थित करते हैं किन्तु वास्तव में वे अर्थहीन होते हैं । एयर के अनुसार तत्वमीमांसीय जिज्ञासा में विभिन्न विज्ञानों की विषय-वस्तु से परे लोकातीत (अलौकिक) सत्ता का अध्ययन किया जाता है । अगर ऐसी सत्ता के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता हो, तब यह सिद्ध हो जाता है कि इस अर्थ मे तत्वमीमांसा संभव नहीं है । तत्वमीमांसा की यह परिभाषा मनगढ़न्त नहीं कही जा सकती, क्योकि तत्वमीमांसको ने विज्ञान की विषय वस्तु से परे लोकातीत सत्ता के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का प्रयास किया है । तत्वमीमांसक वैज्ञानिक-विधि को अस्वीकार करते हैं । किन्तु, इसका अर्थ यह नहीं की तत्वमीमांसा के अनुसार वैज्ञानिक-विधि विज्ञान के लिए अनुपयुक्त है, अपितु तत्वमीमांसा के क्षेत्र में ज्ञान प्राप्त करने के लिए इस विधि का सहारा नहीं लिया जा सकता। प्रो. एयर यह तर्क नहीं देते हैं कि

तत्वमीमांसकों को अपनी लक्ष्य-प्राप्ति के लिए वैज्ञानिक-विधि अपनानी चाहिए, अपितु उनके अनुसार तत्वमीमांसकों का लक्ष्य खोखला है । वे किसी भी प्रकार का तर्क प्रस्तुत क्यों न करें, उन्हें कुछ भी निश्चित कहने में सफलता नहीं मिलती है ।

कांट के अनुसार जब हमारी तर्कबुद्धि अनुभव की सीमा का अतिक्रमण करती है, तब आत्मविरोध में पड़ जाती है । एयर और कांट की मान्यताओं में अन्तर है । कांट के अनुसार अनुभवातीत सत्ता है किन्तु हमारी तर्कबुद्धि ही इस प्रकार की है कि हम इससे उसके संबंध में ज्ञान प्राप्त करने की आशा नहीं कर सकते हैं । अतः कांट के अनुसार ऐसी कल्पना की जा सकती है कि ईश्वर को अनुभवातीत विषय का ज्ञान हो, भले ही ईश्वर की सत्ता प्रमाणित नहीं की जा सके । किन्तु एयर के अनुसार, अनुभवातीत सत्ता है अथवा नहीं है, कुछ भी कहना ऐसी आभासी-प्रतिज्ञपितयों को प्रस्तुत करना है, जो खोखली शब्द-श्रृंखला हैं । हमारे लिए यह मानना कि एक उच्चतर प्राणी को उच्चतर सत्ता का ज्ञान है, एक महत्वपूर्ण है, एक महत्वपूर्ण पूर्वकल्पना भी नहीं कहा जा सकता है। अतः कांट ने तर्कबुद्धि की अक्षमता पर बल दिया है लेकिन एयर ने समस्या की वास्तविकता को ही अस्वीकारा है ।

तत्वमीमांसा का विरोध

तार्किक-प्रत्यक्षवादियों के अनुसार किसी कथन को शब्दशः महत्वपूर्ण होने के लिए दिये गये नियमों का तत्वमीमांसकों ने उल्लंघन किया है । प्रारम्भ में ये नियम भाषा की उस धारणा से संबंधित थे जिसे रसेल के विचारों की पृष्ठभूमि में विटगेन्सटाइन ने अपनी पुस्तक 'ट्रैक्टेटस' में स्पष्ट किया था । इसके अनुसार मूलभूत मान्यता यह है कि कुछ प्राथमिक कथन हैं जो सत्य होने पर पूर्णतः सरल तथ्यों के अनुरूप होते हैं । ऐसा हो सकता है कि वस्तुतः हम जिस भाषा का प्रयोग कर रहे हैं उसमें प्राथमिक

कथनों को व्यक्त नहीं किया जा सके, अर्थात इससे व्यक्त किये जाने वाले कथनों में एक भी पूर्णरूपेण प्राथमिक न हो । ऐसे जटिल कथनों का आधार आवश्यक है । प्राथमिक कथनों के महत्वपूर्ण होने का कारण यह है कि वे चरम 'परमाणविक' तथ्यों की सत्यता-असत्यता बतलाते हैं । प्राथमिक कथनों के संयोजन और निषेध की तार्किक संक्रिया से जटिल कथन का निर्माण होता है । इस प्रकार जटिल कथन की सत्यता-असत्यता दिये गये प्राथमिक कथनों की सत्यता-असत्यता पर आधारित होती है । मान लिया कि 'क' ओर 'ख' दो प्राथमिक कथन हैं, तब 'आणविक' कथन 'क या ख' के स्थान पर 'क' और 'ख' के व्याघातक का निषेध का प्रयोग किया जा सकता है; अर्थात 'क' और 'ख' दोनों असत्य हों, तब यह कथन असत्य होगा । लेकिन निम्नलिखित तीन स्थितियों में यह सत्य हो सकता है अगर 'क' और 'ख' दोनों सत्य हो, अगर 'क' सत्य ओर 'ख' असत्य हो, तथा अगर 'क' असत्य और 'ख' सत्य हों ।

नियमतः कोई कथन जिन संभावित वस्तुस्थितियों से संबंधित होता है, उसके अनुरूप होने पर सत्य होता है अन्यथा असत्य होता है । किन्तु दो चरम अवस्थाएं हैं जिनमें कुछ कथन सदा सत्य होते हैं चाहे कुछ भी कभी असत्य-सत्य हो और कुछ कथन किसी भी स्थिति में असत्य होते हैं, अर्थात पहले प्रकार के कथन किसी भी स्थिति में सत्य होते हैं और दूसरे प्रकार के कथन किसी भी स्थिति में सत्य नहीं होते । विटगेन्सटाइन के अनुसार ये दो चरम अवस्थाएं **पुनरुक्ति** और **व्याघात** है । इस विचार से तर्कशास्त्र के सभी कथन पुनरुक्ति हैं और अगर रसेल तथा ह्वाइटहेड गणित को तर्कशास्त्र में रूपान्तरित करने के प्रयास में सफल हुए हैं तब गाणतिक कथन भी पुनरूक्ति ही हैं । वस्तुतः तर्कशास्त्र और गणित से विश्व के संबंध में किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता । वे किसी कथन की व्युत्पति से दूसरे कथन को बतलाकर हमारे ज्ञान की वृद्धि कर सकते हैं ।

अतः अत्यन्त सन्तुलन के कारण पुनरुक्तियां कोई नया ज्ञान नहीं देती। तथ्यों के संबंध में इनका किसी प्रकार का दावा नहीं होता। अगर यह कहा जाय कि सिंह मांसाहारी होता है, तो हमें सत्य ज्ञान होता है, या यह कहा जाय कि सिंह मांसाहारी नहीं होता, तो हमें असत्य ज्ञान होता है। किन्तु यह कहने मे कि सिंह या तो मांसाहारी होता है या मांसाहारी नहीं होता, हमें सत्य या असत्य किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। इसी प्रकार व्याघातक कथनों मे भी हमें सत्य या असत्य किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि पुनरूक्ति और व्याघात, तथ्यात्मक कथनों की विकृत अवस्थाएँ हैं। इस रूप में अर्थपूर्ण कथन या तो पुनरुक्ति होता है, या तथ्यात्मक, किन्तु तत्वमीमांसीय कथन न तो तथ्यात्मक होते हैं और न पुनरूक्ति होते हैं। इनका निर्माण किसी प्रकार भी प्राथमिक कथनों से नहीं होता है। अतः ये निरर्थक होते हैं।

विटगेन्सटाइन ने प्राथमिक कथनों का स्वरूप स्पष्ट नहीं किया है। उसके अनुयायियों के अनुसार प्राथमिक कथन प्रेक्षण के आधार पर प्रतिवेदित होते हैं। तब, क्या ये विश्वसनीय होते हैं? क्या ये वक्ता के वैयक्तिक संवेदनाओं को बतलाते हैं? अथवा, ये सार्वजनिक भौतिक घटनाएं हैं? इन प्रश्नों को लेकर उनके अनुयायियों में मतभेद हैं। किन्तु वे किसी-न-किसी रूप में इस विषय पर एकमत हैं कि प्राथमिक कथनों के आधार पर दूसरे सभी कथनों का आनुभविक सत्यापन होता है और विटगेन्सटाइन के अनुसार प्राथमिक कथन के कारण ही ये कथन तथ्यात्मक होते हैं। अतः इनकी सार्थकता का उत्तरदायित्व प्राथमिक कथनों पर होता है। इसी विचार को सूत्रबद्ध कर कहा गया है कि किसी प्रतिज्ञाप्ति की सार्थकता उसकी सत्यापनीयता विधि पर आधारित होती है।

इस सूत्र की आधारभूत मान्यता है कि सभी सार्थक कथनों को प्राथमिक कथनों के माध्यम से व्यक्त किया जा सकता है। उच्चतर स्तर

के सभी कथन, जिसमें अत्यन्त अमूर्त वैज्ञानिक पूर्वकल्पनाएं भी समाविष्ट हैं, अन्ततः प्रेक्षित घटनाओं के संक्षिप्त वर्णन से अधिक कुछ भी नहीं होते। किन्तु इस मान्यता को निभाना अत्यन्त कठिन सिद्ध हुआ है । प्राथमिक कथनों को वक्ता के साक्षात अनुभवों का विवरण मान लेने के कारण इसकी विशेष आलोचना की गई । क्योंकि भौतिक वस्तु-संबधी कथनों के विषय में यद्यपि यह दावा किया गया था कि उन्हें हू-बहू इन्द्रिय-दत्त संबंधी कथनों में परिवर्तित किया जा सकता है, किन्तु अभी तक ऐसा नहीं हो पाया है, और वस्तुतः इसे असंभव मानने का पर्याप्त आधार है । इसके अतिरिक्त वक्ता के वैयक्तिक अनुभवों को दूसरे के अनुभवों तथा सार्वजनिक विश्व तक पहुंचाने की समस्या ने अहंमात्रवाद (Solipsism) का प्रश्न उपस्थित कर दिया है । जिन लोगों ने प्राथमिक कथनों को भौतिक घटनाओं का वर्णन स्वीकार किया, उनके लिये समस्या अधिक आसान थी, कम-से-कम वे अहंमात्रवाद के दोष से मुक्त रहे । उन्हें भौतिक वस्तुओं को इन्द्रिय-दत्त में परिवर्तित करने की कठिनाई भी नहीं हुई । किन्तु ऐसा मानने का आधार क्या है ? और भी दूसरी कठिनाईयां उपस्थित हुई । इनमें शायद सबसे गम्भीर आपत्ति सामान्य कथनों को लेकर प्रस्तुत की गई । क्योंकि ऐसे कथन की सत्यता की सम्पुष्टि यद्यपि अनुकूल उदाहरणों के संग्रह से की जा सकती है, किन्तु इनसे सामान्य कथन की औपचारिक अनुलग्नता नहीं होती। भविष्य में किसी उदाहरण से इसके खंडन की संभावना हमेंशा बनी रहती है । अतः इस प्रकार के कथन की निश्चायक सत्यापनीयता नहीं होती है । इसके स्थान पर एक निषेधात्मक उदाहरण को औपचारिक रूप से व्याघातक होने के कारण इसका निश्चायक मिथ्याकरण हो सकता है । अतएव **कार्ल पौप्पर** ने तथ्यात्मक कथन आनुभविकता के लिए मिथ्याकरण-योग्यता की कसौटी को आवश्यक माना है । उसके अनुसार ऐसी कसौटी में तार्किक श्रेष्ठता भी है और वैज्ञानिक व्यवहारों के अधिक अनुकूल है। क्योंकि

वैज्ञानिक किसी पूर्वकल्पना की जांच व्याघातक उदाहरणों से करते हैं । जब कोई व्याघातक उदाहरण मिल जाता है तब पूर्वकल्पना अस्वीकृत कर दी जाती है, अन्यथा पूर्वकल्पना अपना ली जाती है । किन्तु पॉप्पर की इस कसौटी में इसके अपने दोष हैं । उसके आधार पर अस्वीकार किये जा सकते हैं, पर स्वीकार नहीं किये जा सकते । जैसे, यह कहा जा सकता है कि एक भी हिममानव नहीं है, क्योंकि हिममानव देखने पर इसका मिथ्याकरण हो सकता है । किन्तु यह नहीं कहा जा सकता कि हिममानव हैं, क्योंकि अगर एक भी हिममानव नहीं मिले, तब भी निश्चित रूप से सिद्ध नहीं किया जा सकता कि वस्तुतः इनकी सत्ता नहीं है । तर्कसंगत रूप से विशेष विवरण उपलब्ध होने पर यह असिद्ध किया जा सकता है कि किसी नियत स्थान और समय में एक भी हिममानव थां अन्यथा हिममानव का सत्ता-संबंधी कथन तत्वमीमांसीय कहा जा सकता है । लेकिन इस तरह तत्वमीमांसा की सीमा आनुभविक ज्ञान के अधिक निकट आ जाती है ।

इस प्रकार की अन्यान्य कठिनाइयों के कारण तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने यह स्वीकार किया कि निश्चायक सत्यापनीयता अथवा निश्चायक मिथ्याकरण दोनों ही अर्थ की कसौटी के रूप में अत्यन्त क्लिष्ट है । उन्होंने एक अधिक आसान कसौटी दी, जिसमें यह बतलाया कि कथन को अर्थपूर्ण होने के लिए प्रेक्षण के आधार पर कुछ अंश में उसे सम्पुष्टि या असम्पुष्टि योग्य होना आवश्यक है । अगर कोई कथन स्वयं प्रथमिक नहीं हो तो उसे सम्पुष्टि या असम्पुष्टि -योग्य प्राथमिक कथनों पर आधारित होना चाहिए । दुर्भाग्यवश, ''सम्पुष्टि'' या ''आधार'' के प्रत्यय को पूर्णतः स्पष्ट नहीं किया गया है । इस आसान रूप में ''सत्यापनीयता सिद्धांत'' को स्थापित करने के अनेक प्रयास हुए हैं, लेकिन पूर्णरूपेण सन्तोषप्रद रूप में उपलब्ध नहीं होने के कारण इस सिद्धांत को त्यागा नहीं जा सकता है, क्योंकि इसका

सामान्य लक्ष्य काफी स्पष्ट था । इसका प्रयोग कर वियना के प्रत्यक्षवादियों ने दर्शन की अधिकांश शाश्वत समस्याओं को दूर कर दिया । लोकातीत मूल्यों के प्रश्न की तरह उसने एकवाद और अनेकवाद, वस्तुवाद और प्रत्ययवाद के प्रश्न को भी समस्याभास (Pseudo-problems) बतलाया है। उनके अनुसार जिन वस्तुओं का हमें प्रत्यक्ष हो रहा है, वे किसी के मस्तिष्क में हैं अथवा मस्तिष्क से बाहर हैं, इसे निश्चय करने का आनुभविक आधार सत्यापन-सिद्धांत हो सकता है ।

तार्किक प्रत्यक्षवादियों के विरोधियों ने यह आपत्ति की है कि सत्यापनीयता सिद्धांत स्वतः सत्यापनीय नहीं है। इस सिद्धांत के प्रतिपादकों ने स्वयं इसे कोई आनुभविक आधार नहीं दिया है । तब क्या यह सिद्धांत स्वयं तत्वमीमांसीय तो नहीं है ? विटगेन्सटाइन ने इसे सही आपत्ति कही है । 'ट्रैक्टेटस' के अन्त में उसने कहा है - **'इस प्रकार मेरी प्रतिज्ञप्तियां व्याख्यात्मक है : जिसने मुझे समझा है वह अन्त में इस अर्थहीन समझ जाता है ....इन प्रतिज्ञप्तियों पर उसे विजय पा लेनी चाहिए तभी वह विश्व को सही-सही जान सकेगा ।'** किन्तु यह दोहरी चाल है । निस्सन्देह, कुछ अर्थहीन कथन दूसरों कथनों से अधिक विचारोत्तेजक होते हैं किन्तु, इस कारण उसमें तार्किक बल नहीं आता । अगर सत्यापनीयता सिद्धांत वस्तुतः अर्थहीन है, तब इसके कथन को सत्य नहीं माना जा सकता ।

ऐसा लगता है कि वियना मण्डली ने इस कठिनाई पर विशेष ध्यान नहीं दिया। लेकिन यह स्पष्ट है कि उन्होंने वस्तुतः सत्यापनीयता सिद्धान्त परम्परा के रूप में लिया था । उन्होंने अर्थ की उस परिभाषा का प्रतिपादन किया जो सामान्य प्रयोग में आनुभविक सूचनात्मक कथनों के लिए आवश्यक शर्त स्वीकार की गई है । उन्होंने अनुभव निरपेक्ष कथनों को भी उसी अर्थ में लिया जिसके अर्थ में वस्तुतः वे व्यवहृत होते हैं। इस सीमा तक उनका

कार्य वर्णनात्मक था। किन्तु जब उन्होंने इन्हीं दो प्रकार के कथनों को सत्य या असत्य स्वीकार किया और सत्य या असत्य कथनों को ही शब्दशः अर्थपूर्ण बतलाया, तब उनका आदेशात्मक कार्य प्रारम्भ हुआ।

अब प्रश्न यह है कि इस आदेश को स्वीकार ही क्यों किया जाय? अधिक-से-अधिक यह स्वीकार किया जा सकता है कि तर्कशास्त्र के नियमों, वैज्ञानिक पूर्वकल्पनाओं, ऐतिहासिक वर्णनों, प्रत्यक्ष के निर्णयों या सामान्य अर्थ में प्राकृतिक विश्व संबंधी कथनों से तत्वमीमांसीय कथन भिन्न होते हैं। लेकिन इससे यह नहीं कहा जा सकता कि वे सत्य या असत्य नहीं होते और इस कारण अर्थहीन होते हैं।

यह सत्य है कि तत्वमीमांसा की अर्थहीनता का निष्कर्ष सहजता से नहीं निकलता। किन्तु अगर तत्वमीमांसीय कथन और सामान्य ज्ञान या वैज्ञानिक कथनों में महत्वपूर्ण अन्तर हो, तब यह अन्तर उपयोगी हो सकता है। क्योंकि इस प्रक्रिया का दोष यह है कि दार्शनिक प्रश्नों में अभिरूचि लेने से यह किसी व्यक्ति को निरूत्साहित करता है। इसका गुण यह है कि यह वैज्ञानिकों को तत्वमीमांसकों के आधिपत्य में होने का मोहभंग करता है। ये दोनों बातें महत्वपूर्ण हैं। क्योंकि यह सामान्य मान्यता थी कि वैज्ञानिकों और तत्वमीमांसकों का कार्यक्षेत्र एक हैं, किन्तु तत्वमीमांसक विषयवस्तु की गूढ़ता में जाते हैं और तथ्यों के संबंध में गहनतम सत्यों को उद्घाटित करते हैं। अतः यह बतलाना आवश्यक है कि इस अर्थ में वे किसी तथ्य का वर्णन नहीं करते।

प्रो. एयर के अनुसार तत्वमीमांसीय कथनों की अर्थहीनता का एक मात्र कारण इनमें तथ्यात्मकता का अभाव ही नहीं है, वरन् ये कथन प्रागनुभविक भी नहीं हैं। प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की अनिवार्य सत्यता से सम्मोहित होकर तत्वमीमांसकों ने भी इसे अपने क्षेत्र में प्रयुक्त करने का प्रयास किया।[3] किन्तु उन्होंने संश्लेषणात्मक और विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों

को एक-दूसरे के बदले व्यवहृत करने की भूल की । जेनो ने गति के विश्लेषणात्मक प्रत्यय के आधार पर गतिशीलता को अवास्तविक कहा । निश्चय ही, क और ख के बीच की प्रतययात्मक दूरी को अनन्त खंडों मे विभाजित किया जा सकता है और ऐसी दूरी अनन्त काल में ही तय की जा सकती है । किन्तु किसी प्रेक्षित क और ख के बीच की दूरी को अनन्त खंडों में विभाजित नहीं किया जा सकता । इसी प्रकार ब्रेडले का दिक, काल, द्रव्य, गुण आदि के विषय में दिये गये विचार प्रत्ययात्मक हैं और वे प्रेक्षित वस्तु-स्थिति के संबंध में सत्य नहीं हो सकते। जब तत्वमीमांसकों ने अपने प्रत्ययात्मक वर्णनों को तथ्यात्मक स्थिति के अनुरूप नहीं पाया, तब वे आनुभविक विश्व को आभास बतलाने लगे । वस्तुतः तत्वमीमांसकों ने विश्लेषणात्मक प्रत्ययों से आरम्भ करके उसे वस्तु जगत् के लिए व्यवहृत करने की भूल की है। देकार्त्तीय दर्शन की नींव गणितीय पद्धति पर आधारित थी । फलतः बाह्य-जगत् और ईश्वर की सत्ता संबंधी उसके प्रमाण दोषपूर्ण है ।

भाषागत दोष

भाषा विश्लेषण के आधार पर भी प्रो० एयर ने तत्वमीमांसा की अर्थहीनता प्रमाणित की है । जब किसी वाक्य में सत्तात्मक विधेय के स्थान पर किसी दूसरे विधेय का व्यवहार किया जाता है तब उसमें उद्देश्य की सत्ता भी निहित रहती है । जैसे- ''कुत्ते विश्वासी होते हैं।' विश्वासी होने के लिए कुत्ते की सत्ता आवश्यक है । किन्तु ''मत्स्यकन्याएँ काल्पनिक होती हैं'' - क्या इस वाक्य के संदर्भ में मत्स्यकन्याओं की सत्ता स्वीकार की जा सकती है ? अगर मत्स्यकन्याएँ काल्पनिक हैं तो उसकी सत्ता कैसे हो सकती है ? चूंकि ईश्वर, आत्मा, विश्व आदि किसी व्याकरण के वाक्य के

उद्देश्य हो सकते हैं अतः तत्वमीमांसकों ने इनकी भी सत्ता स्वीकार कर ली है ।

तब क्या तत्वमीमांसा वस्तुतः अर्थहीन और व्यर्थ का प्रयास है ? प्रो. एयर ने स्वयं स्वीकार किया है कि वियना की प्रत्यक्षवादियों को अभिरुचि मूलतः आकारिक और प्राकृतिक विज्ञानों में थी । उन्होंने दर्शनशास्त्र को विज्ञान से भिन्न माना, किंतु वे चाहते थे कि वैज्ञानिक ज्ञान को उन्नति में इसका सहयोग मिले । चूंकि तत्वमीमांसा उनकी यह शर्त पूरी नहीं कर सकी । अतः उन्होंने तत्वमीमांसा का तिरस्कार किया । वर्तमान तार्किक विश्लेषक इस दिशा में लगे हैं । ये भी तत्वमीमांसा के विरोधी हैं क्योंकि इनके अनुसार तत्वमीमांसा में भवोद्‌गार प्रकट किये गये हैं । नीतिशास्त्र के क्षेत्र में भी वे दर्शन को प्रवचन से विलग करना चाहते हैं । किन्तु उन्होंने स्वीकृति दी है कि तत्वमीमांसक कभी-कभी विश्व के नये और उपयोगी रूप में प्रस्तुत कर सकते हैं, महत्वपूर्ण आधार पर साधारण प्रत्ययों से असंतुष्ट हो वे इसे सुधारने की माँग कर सकते हैं । निस्संदेह, अनेक अवस्थाओं में वे तार्किक दोषों के शिकार होते हैं, किन्तु ये दोष भी शिक्षाप्रद हो सकते हैं। विट्‌गेन्सटाइन के अनुसार, अगर कोई दार्शनिक समस्या उत्पन्न होती है तो इसका अर्थ है कि हम भाषा के कुछ आवश्यक विशेषताओं का पालन नहीं कर रहे हैं और तत्वमीमांसक अपने असंयम से भी इनके सामाधान में सहयोग दे सकता है ।

अध्याय-2

ज्ञान का स्वरूप

मूल प्रतिज्ञप्तियां, प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ

एवं

प्रागनुभविक सत्य

ज्ञान का स्वरूप

महत्व की दृष्टि से ज्ञान का विषय दर्शनशास्त्र में प्रथम स्थान रखता है। यह कहना अतिशयोक्ति न होगी कि किसी भी दार्शनिक सम्प्रदाय का वैशिष्टय उसकी ज्ञानमीमांसा है। ऐसा कोई दर्शन नहीं है जो ज्ञान के स्वरूप के विषय में अपना विशिष्ट मत न रखता हो।

क्या सीमित एवं अपूर्ण मानव के लिए जगत् ब्रह्म और आत्मा जैसे विषयों का निश्चित तथा वास्तविक ज्ञान संभव है? यदि हां तो मनुष्य को जिस विषय का ज्ञान होता है उसका स्वरूप क्या है? यह प्रश्न उतना ही प्राचीन एवं दुरूह है, जितना कि स्वयं दर्शनशास्त्र। भारत के सांख्य दार्शनिक पंचशिख के अनुसार 'एक ही दर्शन है, ख्याति ही दर्शन है' ।[1] स्पष्ट है कि पंचशिख ने ख्याति शब्द का प्रयोग 'ज्ञान' के अर्थ में किया है। भारतीय और पाश्चात्य दार्शनिकों ने ज्ञान शब्द का प्रयोग कई अर्थों में किया है। सामान्यतः 'ज्ञान' का प्रयोग 'समझ' (Understanding) के अर्थ में किया जाता है। यहां समझ का अर्थ जानने की प्रक्रिया से है। इसके अतिरिक्त बुद्धि का प्रयोग ज्ञान के साधन के रूप में किया जाता है। गौतम जैसे प्राचीन नैयायिकों ने 'ज्ञान' का प्रयोग 'संज्ञान' (Cognition) के अर्थ में किया है। यहां 'संज्ञान' का अर्थ प्रतीति से है। कुछ नैयायिको के अनुसार, ज्ञान समस्त व्यवहारों का हेतु है। (सर्वव्यवहारहेतुज्ञार्नम्) इस दृष्टि से विचार किया जाय तो ज्ञान एक उपलब्धि है। भाट्टमीमांसकों के अनुसार ज्ञान आत्मा का धर्म है। भाट्टमीमांसकों के अनुसार 'शक्ति-सिद्धान्त' नैयायिकों के 'गुण-सिद्धान्त' से अधिक युक्ति संगत है। चूंकि ज्ञान सकर्मक है, इसलिए इसके लिए इससे (ज्ञान से) भिन्न विषय का होना आवश्यक है । ज्ञात या ज्ञान और ज्ञेय कभी एक नहीं हो सकते । जिस प्रकार ऊँगली का अग्रभाग अपने आप को स्पर्श नहीं कर सकता है, उसी प्रकार ज्ञान भी स्वयं को

---

1 - **एकमेव दर्शनम् ख्यातिरेव दर्शनम् (व्यासभाष्य 1 4).**

नहीं जान सकता है। पार्थसारथी मिश्र जैसे मीमांसकों की मान्यता है कि हमें पहले विषय का ज्ञान होता है; उसके बाद अर्थापत्ति से विचार करने से 'ज्ञान का ज्ञान' होता है। इसके विपरीत आचार्य प्रभाकर 'त्रिपुटी प्रत्यक्षवाद' का प्रतिपादन करते हैं। इसके अनुसार 'ज्ञाता, ज्ञेय एवं ज्ञान' इन तीनों की अभिव्यक्ति साथ साथ होती है।

इससे स्पष्ट है कि भारतीय दार्शनिकों ने 'ज्ञान' पद का प्रयोग अनेक अर्थों में किया है। इसी प्रकार पाश्चात्य विचारक भी 'ज्ञान' तथा 'जानना' क्रिया के प्रयोग और स्वरूप के विषय में एकमत नहीं हैं। वे ज्ञान शब्द का प्रयोग कई अर्थों में करते है। **प्लेटों** के समय से ही ज्ञान की प्रकृति को लेकर दार्शनिकों में मतभेद रहा है। प्लेटों ने प्रत्ययवादी ज्ञानमीमांसा का सूत्रपात किया। प्लेटों के दो पूर्वगामी दार्शनिक हुये जिन्होंने दो परस्पर विरोधी सिद्धान्तों की स्थापना की- एक **हेराक्लाइटस** के अनुसार समस्त सत्ता परिवर्तनशील है और दूसरा **पार्मेनाइडीज** जिसके अनुसार सत्ता वही है जो नित्य अथवा अपरिवर्तनशील है और जो कुछ भी परिवर्तनशील दृष्टिगोचर होता है वह प्रतिभासिक है, प्लेटो का सिद्धान्त इन दोनों सिद्धान्तों का सामंजस्य स्थापित करता है। उन्होंने सत्ता को दो क्षेत्रों में विभक्त किया- एक वह जहां नित्यता है। अपरिवर्तनशीलता है, शाश्वत स्थिरता है और दूसरा वह जहां सतत् परिवर्तनशीलता है, अनित्यता है। जो इन्द्रियगम्य क्षेत्र है वह अनित्यता और परिवर्तनशीलता का क्षेत्र है और इसके परे अतीन्द्रिय बुद्धि गम्य क्षेत्र है वह नित्यता का क्षेत्र है। प्लेटो के अनुसार यथार्थ विरोधरहित ज्ञान केवल नित्य वस्तु का हो सकता है और जिस ज्ञान के द्वारा विरोधी गुणों की प्रस्थापना है वह यर्थाथतः ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। उसे केवल मत (Opinion) कह सकते हैं। इन्द्रिया हमें ज्ञान नहीं प्रदान करती, वे केवल मत प्रदान करती है। ज्ञान प्रदान करना बुद्धि का कार्य है। ए. एन. हवाइटहेड का एक सुविख्यात कथन है कि पश्चिम

में जितने प्रमुख दर्शन प्रतिपादित किये गये हैं वे मात्र प्लेटो पर पाद-टिप्पणियां हैं। यह कथन कुछ अंशों में अतिशयोक्तिपूर्ण हो सकता है, किन्तु इसमें संदेह नहीं कि सदियों तक प्लेटो के सिद्धान्त पाश्चात्य दार्शनिक चिंतन को प्रभावित करते रहे।

प्लेटो के अनुसार ज्ञान, जो यर्थाथतः ज्ञान कहा जा सकता है, सत् का ही हो सकता है जो असत् है उसका अज्ञान होगा इन दोनों के स्वभावों का समावेश करना **'मत'** का विषय है। ज्ञान-ज्ञान में पारस्परिक विरोध नहीं हो सकता किन्तु मत-मत में विरोध हो सकता है। वह यर्थाथतः ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। उसे केवल 'मत' (Opinion) कह सकते है। इन्द्रियाँ हमें ज्ञान नहीं प्रदान करती है, वे केवल 'मत' प्रदान करती हैं। ज्ञान प्रदान करना बुद्धि का कार्य है।

एक गेंद हाथी के लिए छोटी वस्तु है किन्तु चींटी के लिये बड़ी वस्तु है। इसी तरह यदि सभी इन्द्रियगम्य वस्तुयें 'मत' के विषय में है तो ज्ञान के विषय क्या है? प्लेटो का उत्तर है, **नित्य आकृतियां (Eternal Forms) या प्रत्यय (Idea)** । प्लेटो की नित्य आकृतियां या प्रत्यय क्या है? इस प्रश्न का सही उत्तर देना अत्यन्त कठिन है और यह विषय अभी तक विवादग्रस्त है इस सिद्धान्त का आरम्भ विन्दु यह मान्यता है कि ज्ञान का अस्तित्व अवश्य है और ज्ञान निर्विकार तथा शाश्वत है। अपने पूर्वगामी हेराक्लाइटस तथा प्रोटागोरस द्वारा प्रतिपादित ज्ञान के सापेक्षतावाद के सिद्धान्त को प्लेटो स्वीकार नहीं कर सकता था। **प्रोटागोरस**[2] का यह कथन प्रसिद्ध हो गया था कि **'मानव समस्त वस्तुओं का मापदण्ड है।' सुकरात** की भी यही मूलभूत धारणा थी कि ज्ञान में स्थायित्व होना अनिवार्य है, वह ज्ञान, ज्ञान नहीं कहा जा सकता जो अनित्य एवं सतत् परिवर्तशील हो। सुकरात ने यह वताने का प्रयत्न किया कि यह स्थिरता कहां पाई जा

2- Protagoras. *"Man is the Major of all things"*

सकती है। ऐन्द्रिक अनुभूतियों के प्रवाह में नहीं किन्तु विचार में वह स्थायित्व है जो ज्ञान का यथार्थ स्वरूप है। सुकरात एवं प्लेटो के बाद दार्शनिक महत्ता में **अरस्तू** का ही नाम आता है। उन्होंने ज्ञान के तीन स्तर को बताया प्रथम है इन्द्रियानुभव जिसके द्वारा हमें केवल विशेषों का पृथक-पृथक ज्ञान होता है। द्वितीय है पदार्थ विज्ञान जिसके द्वारा हम विशेषों में सामान्य को खोजते हैं, उनके कार्य-कारण-भाव सम्बन्ध को जानते हैं और उस ज्ञान को जीवन के उपयोग में लाते है। तृतीय ज्ञान दर्शन का ज्ञान है। तत्वज्ञान का दर्शन सर्वोत्तम है। यह परमार्थ तत्व के शुद्ध स्वरूप का ज्ञान है। यहां पर सोफिस्टों का कहना है कि प्रत्यक्ष क्षणभंगुर होता है। फिर एक व्यक्ति का प्रत्यक्ष अन्य व्यक्तियों के प्रत्यक्ष से भिन्न होता है। पुनः सापेक्षता के साथ प्रत्यक्ष में भ्रम की बराबर गुंजाइश रहती है।

अरस्तू के अनुसार ज्ञान का मुख्य लक्ष्य है कि इसके द्वारा नित्य रूपों या आकारों को खोज निकाला जाय। प्लेटो के विपरीत अरस्तू का मत था कि रूपों (**forms**) का, वस्तुविशेषों से पृथक, कोई स्वतन्त्र धाम नहीं है। रूप या आकार केवल वस्तुविशेषों में निहित होते हैं। उदाहरणार्थ, अश्व का प्रत्यय या आकार काले घोड़े, सफेद घोड़े, भूरे घोड़े इत्यादि में ही पाया जाता है और इन विशिष्ट घोड़ों के अतिरिक्त अश्व-प्रत्यय या अश्व का आकार अन्यत्र नहीं पाया जाता है। इसलिए अरस्तू के अनुसार बिना विशिष्ट वस्तुओं के निरीक्षण के इन आकारों का पता नहीं लग सकता है। इसलिए प्रत्यय अथवा आकारों की ज्ञानप्राप्ति के निमित्त अरस्तू ने विशिष्ट वस्तुओं के निरीक्षण को आवश्यक माना है। चूँकि अरस्तू ने प्लेटो के अन्तः प्रकाशना-सिद्धान्त के स्थान पर वस्तुविशेषों के निरीक्षण को आवश्यक माना है, इसलिए प्लेटोवाद की तुलना में अरस्तूवाद को अनुभववाद की संज्ञा नहीं दी जाती है। परन्तु समसामयिक अनुभववाद को ध्यान में रखकर हम अरस्तूवाद को 'अनुभववाद' की संज्ञा नहीं दे सकते।

आकारों के ज्ञान को प्राप्त करना अरस्तू का मुख्य उद्देश्य था। परन्तु अनुभववाद के अनुसार तथ्यों की ज्ञानप्राप्ति ही ज्ञान का मुख्य लक्ष्य है। चूँकि अरस्तू प्रत्यय को प्रथम स्थान दिया, इसलिए अरस्तू की ज्ञान-मीमांसा में अनुभव का स्थान गौण और आकार का स्थान प्रथम माना गया है। परन्तु अनुभववाद के अनुसार इन्द्रियानुभव के साथ तथ्य के स्थान को ही प्रमुख स्थान दिया जाता है।

फिर अरस्तूवाद में 'अनुभव' की भी व्याख्या नहीं की गयी है। यही कारण है कि मध्ययुगी अरस्तूवाद में बाइबिल, अरस्तू-रचना तथा धर्मदार्शनिक रचनाओं को भी अनुभव-प्रदत्तों का स्थान दिया गया था। इन्द्रिय प्रदत्तों को छोड़कर समसामायिक अनुभववाद में किसी भी शास्त्रीय तथा अधिकारियों के लेख को प्रदत्तो का स्थान नहीं दिया जा सकता है।

अन्त में केवल अनुभव को ही नहीं, परन्तु किस प्रकार के अनुभव को स्वीकार-कर उस अनुभव को किस प्रकार व्यवहृत कर भविष्य कथन किया जाय, यह समसामयिक अनुभववाद का मुख्य उद्देश्य है। अरस्तूवादी अनुभववाद के आधार पर प्राकृतिक घटनाओं का नियन्त्रण और पूर्वकथन नहीं किया जा सकता है। यही कारण है कि बेकन ने अरस्तूवादी अनुभववाद को निष्फल एवं निरूर्वर बताया है।

अरस्तूवाद की कमियों को देखकर समसामयिक अनुभववादी लॉक, बर्कले तथा ह्यूम के मनोवैज्ञानिक अनुभववाद को ही समसामयिक अनुभववाद का प्रारम्भिक रूप मानते हैं।

ब्रिटिश मनोवैज्ञानिक अनुभववाद के अनुसार **इन्द्रियानुभव** ज्ञानप्राप्ति का एक मात्र आधार है और ज्ञान को अन्तिम कसौटी है। अनुभव को ही विविध रूप में नियन्त्रित करने पर और अनुभव को ही अन्तिम सत्यापन-सिद्धान्त मानकर निश्चित तथ्यात्मक ज्ञान विज्ञान में प्राप्त किया जाता है। कम से कम ह्यूम के मनोवैज्ञानिक अनुभववाद को समसामयिक

तर्कनिष्ठ अनुभववाद तथा दार्शनिक विश्लेषण का प्रमुख ऐतिहासिक आधार स्वीकार किया जाता है, परन्तु इस ह्यूमी अनुभववाद की भी अपनी त्रुटियां हैं -

(क) लॉक प्रभृति मनोवैज्ञानिक अनुभववादी के अनुसार 'अनुभव' मे संवेदन तथा आत्मप्रेक्षण का ही तात्पर्य होता है इसलिये इनके अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग नहीं है जिससे ज्ञानप्राप्ति की जा सकती है। इस प्रकार के अनुभववाद के अनुसार 'संवेदन' और 'आत्मप्रेक्षण' ही ज्ञान के प्रारम्भिक तथा अंतिम स्रोत है। लॉक के प्रभृति अनुभववाद को इसलिये मनोवैज्ञानिक समझा जाता है कि इसके अनुसार ज्ञान के स्वरूप को जानने के लिए हमें जानना चाहिये कि ज्ञान प्राप्ति के अवसर पर **मन** में क्या बीतता है। अतः ब्रिटिश अनुभववादी ज्ञानमीमांसा में ज्ञान की व्याख्या मानसिक प्रक्रियाओं के आधार पर करते हैं और मानसिक प्रक्रियाओं को निर्धारित करने के लिए मनोवैज्ञानिक विधि की मदद लेते हैं। इसके विपरीत तर्कनिष्ठ अनुभववादी मानसिक प्रक्रिया पर ध्यान न देकर उन बीज तत्वों को निश्चत करते हैं जिनके द्वारा तथ्यात्मक तथा वस्तुनिष्ठ ज्ञान की इमारत खड़ी की जाती है। इन सरलतम बीज तत्वों को मनोवैज्ञानिक विधि के द्वारा नहीं, वरन् तार्किक विश्लेषण के आधार पर निश्चित किया जाता है।

यह ठीक है कि बाह्य वस्तु को जानने के लिए संवेदन आवश्यक होता है परन्तु संवेदन में दो अंश पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ, यह लाल है। इसमें एक अंश ज्ञाता की चेतना का है और दूसरा अंश सरलतम वस्तु विषय का है जिसे यह चेतना उद्घाटित करती है। जब तक कोई सचेत न रहे और न देखे तब तक लाल की संवेदना नहीं हो सकती है। परन्तु जब हम कहते हैं कि यह फूल लाल है या यह किताब लाल है तो हम अपनी मानसिक चेतना की ओर किसी का ध्यान नहीं आकृष्ट करना चाहते हैं, या यह नहीं कहना चाह रहे हैं कि हम देख रहे हैं। हम फूल की लाली या

किताब की लाली के विषय को बताना चाहते हैं। अतः संवेदन में आत्मनिष्ठ चेतना पायी जाती है और इसके साथ साथ इस चेतना के द्वारा उद्घाटित तथ्य भी पाया जाता है। समसामयिक अनुभववादी मनोवैज्ञानिक शब्द 'संवेदन' को नहीं काम में लाते हैं। इसके स्थान पर 'संवेदित प्रदत्त' (**Sensedatum**) को काम में लाया जाता है ताकि मानसिक अंश को नहीं, परन्तु उस सरलतम ज्ञान के विषय को निर्दिष्ट किया जाय जिसे हमारी चेतना उद्घाटित करती है।

पुनश्च, मनोवैज्ञानिक अनुभववाद के अनुसार सरल संवेदनायें एक-दूसरे से पृथक-पृथक हुआ करती हैं। परन्तु ज्ञान सम्बद्ध एवं व्यवस्थित होता है। ह्यूमी अनुभववाद के अनुसार व्यवस्था एवं सम्बद्धता पदार्थ तथा कारण-कार्य के कोटि-प्रत्यय (**Categories**) के द्वारा प्राप्त होती है। परन्तु ह्यूम के अनुसार स्वयं पदार्थ तथा कारण-कार्य के कोटि-प्रत्यय सहचार के मनोवैज्ञानिक नियम के आधार पर प्राप्त होते हैं और मनोवैज्ञानिक नियम अन्त में मन के स्वरूप पर निर्भर करते हैं। यही कारण है कि ह्यूमी अनुभववाद को मनोवैज्ञानिक कहा जाता है। परन्तु चूंकि व्यक्तियों के मन एक दूसरे से विभिन्न होते हैं, इसलिये मानसिक सहचार सापेक्ष होते हैं और इन सापेक्ष नियमों के आधार पर विषयगत एवं अतिव्यक्तिक सर्वव्यापक ज्ञान की व्याख्या नहीं की जा सकती है। इस रूप में भी ह्यूमी व्याख्या मानसिक क्षेत्र में निहित कहलायेगी और यहां भी मनेतर (**Extra-Mental**) वाह्यनिष्ठ तथा स्वतन्त्र वस्तुओं की व्याख्या नहीं हो पाती है।

तीसरी बात है कि गणितीय एवं तार्किक अभिकथनों की ब्रिटिश अनुभववादी मनोवैज्ञानिक व्याख्या संतोषजनक नहीं समझी गई है। यदि अनुभव पर ही सभी गणितीय अभिकथनों की व्याख्या निर्भर करती तो कोई ऐसा नहीं कहता कि 2 और 2 मिलकर अवश्यमेव 4 होता है, क्योंकि यदि दो बकरियों और दो बाघों को एक साथ रखा जाय तो थोड़ी देर में

चार जानवर न होकर केवल दो ही पशु पाये जायेंगे। इसी प्रकार यदि जल की बूंदें दो-दो करके ग्लास में डाली जायें तो ग्लास में चार बूंदों के स्थान पर केवल एक ही बूंद देखने में आयेगी। पुनः लोग समझते हैं कि ज्यामितिक अभिकथनों की व्याख्या अनुभव पर आधारित होती है। परन्तु बात ऐसी नहीं है। क्या कोई भी अनुभूत सरल रेखा ऐसी पाई गयी है जिसकी चौड़ाई न हो और केवल लम्बाई हो? क्या कोई भी ऐसा त्रिभुज पाया जाता है जिसके तीनों कोण मिलकर ठीक दो समकोण के बराबर होते हैं?

समसामयिक अनुभववादियों के अनुसार गणितीय अभिकथन अंतिम रूप में तार्किक अभिकथनों में परिणत किये जाते हैं; और इन तार्किक प्रनियमों की व्याख्या अन्त में भाषा के आधार पर की जा सकती है। उदाहरणार्थ तार्किक अनिवार्यता की व्याख्या भाषा के आधार पर की जाती है। यदि हम 'लाल गुलाब' के अर्थ को समझते हैं तो हमें अश्वयमेव कहना पड़ता है -

1. लाल गुलाब लाल है।
2. लाल गुलाब गुलाब है।
3. लाल गुलाब फूल है।

यहां इन विश्लेषात्मक अभिकथनों की अनिवार्यता 'लाल गुलाब' प्रत्यय को उसके परिभाषित अर्थ में संगत रूप से व्यवहृतकर प्राप्त की गई है। अतः तार्किक अनिवार्यता को भाषा के संगत व्यवहार से प्राप्त किया जाता है। परन्तु किसी भी शब्द की परिभाषा रूढ़िगत होती है और रूढ़ि मानव की सामूहिक अनुभूति से बनती है। अतः अंत में देखा जाय तो तार्किक नियमों की स्थापना भी मानव अनुभूति पर निर्भर करती है। चूंकि समसामयिक अनुभववाद में तार्किक नियमों की व्याख्या सफलतापूर्वक अनुभूति के आधार पर की गई है, इसलिए इस प्रकार के अनुभववाद को 'तर्कनिष्ट अनुभवाद' की संज्ञा दी गई है। तर्कनिष्ट अनुभववाद में

मनोवैज्ञानिक अनुभववाद की अनेक त्रुटियों को दूर किया गया है। मनोवैज्ञानिक अनुभववाद की मान्यताओं को संगत रूप से काम में लाने पर यह 'संदेहवाद' में परिणत हो जाता है; परन्तु ह्यूम का यह भ्रमपूर्ण मत था कि तथ्यात्मक ज्ञान को भी अनिवार्यतः सत्य होना चाहिये। तर्कनिष्ट अनुभववादी विज्ञान को ज्ञान का मानदण्ड स्वीकरते हैं और बताते हैं कि तथ्यात्मक अभिकथन संभाव्य ही हो सकते हैं, न कि अनिवार्य। यदि निश्चित वैज्ञानिक कथन संभाव्य (Possible) या प्रायिक (Probable) ही हो सकते हैं; तो क्यों तथ्यात्मक अभिकथनों को अनिवार्य रूप से सत्य नहीं होने को संदेहवाद समझा जाय? तर्कनिष्ट अनुभववादी स्वीकारते हैं कि तथ्यात्मक कथन को प्रायिक ही मानना चाहिये। परन्तु इसे संदेहवाद नहीं कहा जायगा क्योंकि वैज्ञानिक ज्ञान प्रायिक अथवा संभाव्य हो जाने पर भी मानव के व्यवहारिक जीवन के लिये पूर्णतया निश्चित तथा विश्वसनीय समझा जायगा। अतः तर्कनिष्ट अनुभववाद ह्यूमी अनुभववाद के संदेहवाद से सुरक्षित रहता है और इसके अनुसार ज्ञान की मर्यादा अक्षुण्ण रह जाती है।

समसामयिक अनुभववाद में तर्कनिष्ट अनुभववाद के समान दार्शनिक विश्लेषण का भी उल्लेख करना पड़ता है और दार्शनिक विश्लेषण में रसेल और वियना स्कूल का प्रभाव सम्मिश्रित रूप में पाया जाता है। इस सम्मिश्रण में इस युग के प्रर्वतक, दार्शनिक विट्गिन्सटाइन का स्थान उल्लेखनीय है सर्वप्रथम विट्गिन्सटाइन रसेल के प्रभाव में आकर Tractatus-Logico Philosophicus को लिखा और इस पुस्तक में परमाणु कथन (atomic Statement), चित्रण सिद्धान्त (theory of Picturing) तथा विश्लेषण इत्यादि का उल्लेख किया है। इस पुस्तक के **4024वें**[3] सूत्र में सत्यापन सिद्धान्त के बीज तत्व को विट्गिन्सटाइन ने निम्नलिखित रूप में व्यक्त किया है। "किसी भी प्रतिज्ञप्ति के अर्थ को

3- Wittgentein. Ludwig 4024. *Tractus-Logico Philosophics* (Translated by) D. F. Pears and B. F. Mc. Gunnies. London. 1961

जानने के लिये उस यथार्थ स्थिति को निर्दिष्ट करना चाहिये जिसके वास्तविक होने से उस अमुक प्रतिज्ञप्ति को सत्य कहा जा सकता है।"[4]

इस पुस्तक को लिखने के कुछ दिन बाद ही विट्गिन्सटाइन वियना आ गये और विएना स्कूल के तर्कनिष्ठ भाववादियों (Logical Positivists) से विचार विमर्श किया इस विचार विमर्श की कथा ज्ञात नहीं हुई है, परन्तु ऐसा मालूम होता है कि विचार विमर्श के फलस्वरूप विट्गिन्सटाइन के मत में बहुत परिवर्तन आया उन्होंने अपने दार्शनिक विचारों को एकदम बदल दिया। उन्होंने अपनी पहली पुस्तक **(Tractatus)** की बड़ी आलोचना की है और इन परिवर्तित विचारों को अपनी दूसरी पुस्तक **(Philosophical Investigation)** में व्यक्त किया है इस दूसरी पुस्तक में विट्गिन्सटाइन ने परमाणु-कथन को त्याग दिया है और प्रमाणीकरण के स्थान पर प्रयोग-सिद्धान्त (Use theory) को प्रतिपादित किया है ।[4a]

यही प्रयोग-सिद्धान्त समकालीन दार्शनिक विश्लेषण तथा अनुभववाद का कुंजीपद है। आक्सफोर्ड के प्रसिद्ध दार्शनिक **राईल** ने लिखा है किसी अभिकथन के अर्थ को निर्धारित करने के लिये ये ज्ञात होना चाहिये कि यह (अमुक अभिकथन) किस प्रकार से व्यवहृत किया जाता है और (किस प्रकार से) व्यवहृत नहीं किया जाता है[4b] फिर सुविख्यात प्रातिभ दार्शनिक **आस्टिन** ने बताया कि भाषा का कार्य केवल सूचना ही देना नहीं है इसके प्रयोग असंख्य और अनेक हैं।

4- Wittgenstein. Ludwig. *Philosophical Investigations*. Basil Blackwell. Oxford. 1953 "भाषा में किसी शब्द का अर्थ उसके प्रयोग पर निर्भर करता है।" पृ0 20(e)

4a- "कोई भी चिन्ह अपने आप में निष्प्राण होता है। इसमें कौन प्राण फूँकता है? यह प्रयोग में ही जीवित होता है।" पृ0 127**(e)**

4b- G.Ryel. Britih Philohphy the mid century p. 235e

समसामयिक अनुभववाद के अनुसार दर्शन का मुख्य काम है कि प्रयुक्त प्रत्ययों का अर्थ-विश्लेषण करें, न कि सत्यता की प्राप्ति करें। इस दार्शनिक विश्लेषण के सिद्धान्त को धीरे-धीरे अनुभववादियों ने अपनाया है। 20वीं शताब्दी के प्रथम भाग के ब्रिटिश अनुभववाद में रसेल की देन मुख्य मानी जायगी और रसेल अपने सिद्धान्त को तर्कनिष्ठ अनुभववाद कहते हैं। इस तर्कनिष्ठ अनुभववाद और दार्शनिक विश्लेषण में अंतर है। यह अंतर वियना शाखा के तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद के द्वारा उत्पन्न हुआ है। इस समय आंग्ल-अमेरिकी विचारधारा विश्लेषणवादी है, न कि तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवादी। परन्तु बिना तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद के अध्ययन के विश्लेषणवादी धारा के महत्व को समझने में कठिनाई हो जायगी। यही कारण है कि साम्प्रतिक विचारधारा की कड़ी को जिसे तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद कहा जाता है, हमें समझना पड़ता है और इसे प्रोफेसर ए. जे. एयर ने अपनी पुस्तक **"Language, Truth and Logic"** में सन् 1936 में प्रस्तुत किया है।

तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद

रसेल का तर्कनिष्ठ अनुभववाद गणित पर आधारित कहा जायगा, परन्तु वियना शाखा का तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद विशेषतया तथ्यात्मक विज्ञानों (उदाहरणार्थ, भौतिकी, रसायनशास्त्र, मनोरंजन इत्यादि) पर आधारित माना जायगा। वियना शाखा के अधिकांश अनुभववादी वैज्ञानिक थे। इन्होंने पाया कि तत्वमीमांसा में किसी भी प्रकार की ज्ञानवृद्धि नहीं होती है। यह केवल मतमतान्तरों का अखाड़ा बना रहता है। इसकी तुलना में विज्ञानों में 400 वर्षों से लगातार प्रगति बनी हुई है। इसलिए तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवादियों ने तथ्यात्मक विज्ञानों को ज्ञान का आदर्श तथा मानदंड स्वीकार कर लिया है। यदि वैज्ञानिक ज्ञान को ज्ञान का मानदंड मान लिया जाय तो इसमें दो ही प्रकार के कथन पाये जाते हैं: (क) गणित-तर्कशास्त्र के कथन, और (ख) तथ्यात्मक कथन। अतः तर्कनिष्ठ प्रत्यक्षवाद के अनुसार केवल दो ही प्रकार

के अभिकथन संज्ञानात्मक स्वीकार किये जा सकते हैं, अर्थात् गणितीय-तार्किक जिन्हें **'विश्लेषात्मक'** संज्ञा दी जा सकती है और **संश्लेषात्मक** । प्रत्यक्षवादियों ने संज्ञात्मक कथनों को ध्यान में रखकर दो मुख्य निष्कर्षों को स्थापित किया है-

1. किसी भी तथ्यात्मक कथन को अर्थपूर्ण, अर्थात् सूचनात्मक होने के लिए सत्यापनीय होना चाहिये।

2. चूंकि तत्वमीमांसीय अभिकथन सत्यापनीय नहीं है, इसलिये वे अर्थहीन कहे जायेंगे। चूंकि सत्यापन-सिद्धान्त के आधार पर ही तत्वमीमांसा को अर्थहीन कहा गया है, इसलिये प्रोफेसर एयर ने सत्यापन-सिद्धान्त पर ही बहुत अधिक बल दिया है। सामान्य रूप से किसी अमुक अभिकथन 'क' का अर्थ उस विधि और उन साक्ष्यों के द्वारा स्पष्ट किया जाता है जिसके आधार पर उस अमुक अभिकथन 'क' की सत्यता निर्धारित की जाती है। उदाहरणार्थ, 'हरे गुलाब की गंध नहीं पाई जाती है।' इस कथन के सत्यता की विधि है कि इसे सूंघा जाय और सार्वजनिक, आवृतीय तथा संज्ञाप्य अनुभूति के द्वारा सिद्ध किया जाय। अतः, सत्यता-सिद्ध करने के लिए इन्द्रियानुभव की आवश्यकता पड़ती है और इसलिये सत्यापन-सिद्धान्त के लिये अनुभव सम्बन्धी विश्लेषण की आवश्यकता होती है। सत्यापन-सिद्धान्त के संदर्भ में निम्नलिखित समस्यायें देखने में आती हैं।

1. संज्ञानात्मकता (सूचनामूलकता) की दृष्टि से अभिकथनों का वर्गीकरण और उनके अर्थनिरूपण की विधि।

2. 'अनुभूति' का स्वरूप जिसके आधार पर सत्यापन सम्पादित किया जाता है।

3. 'अर्थ' का अर्थ-विश्लेषण, अर्थात् स्पष्ट करना चाहिये कि सत्यापन सिद्धान्त किस प्रकार का अर्थ व्यक्त करता है।

4. सत्यापन-सिद्धान्त का प्रतिपादन अथवा सूत्रीकरण जो अभी तक सफल रूप में प्रस्तुत नहीं हो पाया है।

परम्परागत परिभाषा

परम्परागत दार्शनिक विचारधारा के अनुसार ज्ञान साक्ष्यों पर आधारित एक सत्य विश्वास है। (Knowledge is a justified true belief), ज्ञान के लिये तीन शर्तें आवश्यक है। यदि कोई ज्ञाता किसी प्रतिज्ञप्ति (Proposition) को जानता है तो उसे निम्नलिखित शर्तें पूरी करनी चाहिये।

(क) 'प्रतिज्ञप्ति विशेष' सत्य है।

(ख) ज्ञाता उस प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करता है।

(ग) ज्ञाता के पास प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करने के लिए साक्ष्य है अर्थात् ज्ञान के लिये सत्य, विश्वास और साक्ष्य ये तीनों अनिवार्य शर्तें हैं।

ये तीनों शर्तें प्रतिज्ञप्ति सम्बन्धीज्ञान (Propositional Knowledge) के संदर्भ मे अधिक तर्कसंगत है।

प्रथम शर्त के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति को जानना, किन्तु उसका असत्य हो जाना आत्म व्याघाती (Self-Contradictory) होगा। इससे सिद्ध होगा कि किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने के अंश के रूप में उस प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना भी सम्मिलित होता है। इसके विपरीत किसी प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करना और उस प्रतिज्ञपित का असत्य होना संभव है। सत्यता और असत्यता विश्वास के गुण हो सकते हैं। कुछ दार्शनिकों के अनुसार सत्यता और असत्यता प्रतिज्ञप्तियों के गुण हैं। चूंकि विश्वास (Belief) भी एक प्रतिज्ञप्ति सम्बन्धी दृष्टिकोण (Propositional attitude) है[5] इसलिये उसे (विश्वास को) सत्य अथवा असत्य कहा जा सकता है।

5- *इनवेस्टीगेटिंग विटगेन्श्टाइन,* हिनटिक्का,- जाको, पृ. 290-931

किसी प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना मात्र उसके ज्ञान के लिये पर्याप्त नहीं है। उसे सत्य होने के साथ-साथ विश्वसनीय भी होना चाहिये। यह कहना है कि मैं अमुक प्रतिज्ञप्ति को जानता हूं लेकिन उस प्रतिज्ञप्ति में विश्वास नहीं करता हूं, असंगत होगा। अतः विश्वास को ज्ञान की एक प्रमुख विशेषता माना गया है। यह उल्लेखनीय है कि किसी प्रतिज्ञप्ति में विश्वास कराना उस प्रतिज्ञप्ति के सत्य होने की परिभाषिक विशेषता नहीं है। संक्षेप में, विश्वास उत्पन्न कराना ज्ञान की एक महत्वपूर्ण शर्त है।

ज्ञान की तीसरी शर्त साक्ष्य है। ज्ञाता के पास ज्ञेय प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करने के लिए साक्ष्य होना चाहिये। किसी प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करने के लिए साक्ष्य (Evidence) की भिन्न-भिन्न मात्रायें हो सकती हैं।कुछ साक्ष्य किसी के प्रमाणीकरण की गारंटी तो देते हैं किन्तु उसकी सत्यता की गारन्टी नहीं देते हैं। इन्हें **तार्किक हेतु (Logical Reaon)** कहा गया है। आगमनात्मक साक्ष्य (प्रमाण) स्वरूपतः इसी प्रकार का होता है। ज्ञान के लिए केवल तार्किक हेतुओं (Logical Resaons) से काम नहीं चलता है। इसके लिए निर्णायक साक्ष्य (Conclusive Evidence) की आवश्यकता है जो प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को भी सुनिश्चित कर सके।[6] समस्या यह है कि निर्णायक सत्य का प्रतिमान क्या है? जो साक्ष्य आज निर्णायक समझा जा रहा है, वह निरपेक्ष रूप में निर्णायक नहीं है। प्रत्येक साक्ष्य किसी देश काल के सापेक्ष रूप में ही निर्णायक हो सकता है। इस प्रकार संप्रति का उपलब्ध समस्त साक्ष्यों का परीक्षण निरीक्षण कर लेने पर भी किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को जानने का शत प्रतिशत दावा नहीं किया जा सकता है। साक्ष्य की कितनी मात्रा ज्ञान के लिए पर्याप्त होगी? यह प्रश्न पूर्ववत् अनुत्तरित रह जाता है।

6- Pollock. John. L.. *Knowledge and Justification.* Princeton Uneversity Press. New Jersey. 1974. P. 39-40

समकालीन दार्शनिकों ने भी इस समस्या पर गम्भीर अनुशीलन किया है। इस सम्बन्ध में गेटियर का नाम उल्लेखनीय है।

2. गेटियर की समस्या - ज्ञान की परम्परागत परिभाषा के विरूद्ध गेटियर की एक आपत्ति महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार कोई व्यक्ति अनुमान की प्रक्रिया के द्वारा एक ऐसा प्रमाणित तथा असत्य विश्वास रख सकता है, जिसके आधार पर वह एक ऐसी प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करता है, जो संयोगवश सत्य हो। इस प्रकार एक न्यायोचित और सत्य विश्वास (justified true belief) का तर्कसंगत दावा किया जा सकता है, जो ज्ञान नहीं है। इस सम्बन्ध में गेटियर ने दो उदाहरण दिये हैं। सुविधा के लिये गेटियर के द्वारा दिये गये दोनों उदाहरणों का संक्षिप्त उल्लेख किया जाता है, जो इस प्रकार है-

प्रथम उदाहरण - मान लिया कि स्मिथ और जोन्स नामक दो व्यक्ति दो व्यक्ति किसी कम्पनी में नौकरी के लिये आवेदन करते हैं। मान लीजिये कि स्मिथ अधोलिखित प्रतिज्ञपित (Proposition) में एक साक्ष्य के आधार पर विश्वास करता है -

. (क) "जोन्स वह व्यक्ति है, जिसे नौकरी मिलेगी और उसकी जेब में दस सिक्के हैं।"

प्रतिज्ञप्ति (क) मे विश्वास करने के लिए स्मिथ के पास कम्पनी के अध्यक्ष द्वारा दिया गया। यह आश्वासन प्रमाण है कि जोन्स को नौकरी मिलेगी। स्मिथ ने कुछ मिनट पहले ही जोन्स की जेब के सिक्कों को गिना था। ऐसी स्थिति में प्रतिज्ञप्ति (क) से यह अनुलग्न होता है कि (ख) 'जिस व्यक्ति को नौकरी मिलेगी उसकी जेब में दस सिक्के हैं।'

यहाँ पर स्मिथ 'ख' को 'क' के आधार पर स्वीकार करता है। स्मिथ के पास 'क' को स्वीकार करने या उसमें विश्वास करने के लिए सबल प्रमाण है। इस आधार पर यह दावा किया जा सकता है कि स्मिथ 'ख' में

विश्वास करने के लिए प्रमाणयुक्त है। किन्तु गेटियर एक अन्य सम्भावना की कल्पना करता है। मान लिया कि जोन्स के स्थान पर स्वयं स्मिथ नौकरी के लिए चुन लिया जाता है और स्वय स्मिथ के जेव में दस सिक्के हैं, जिसकी उसे जानकारी नहीं है। वह (स्मिथ) यह भी नहीं जानता है कि उसे नौकरी मिलेगी। इस उदाहरण के द्वारा गेटियर यह दिखाता है कि प्रतिज्ञप्ति (ख) सत्य है, यद्यपि प्रतिज्ञप्ति 'क' जिसके आधार पर स्मिथ ने 'ख' को नियमित किया है, असत्य है। उदाहरण से यह सिद्ध होता है कि एक प्रमाणित या न्यायोचित सत्य विश्वास (Justified True Belief) का ऐसा दावा किया जा सकता है, जिसे 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता। इस उदाहरण में (ख) 'जिस मनुष्य को नौकरी मिलेगी उसकी जेब में दस सिक्के हैं' सत्य है।

स्मिथ यह विश्वास करता है कि 'ख' सत्य है।

'ख' की सत्यता में स्मिथ का विश्वास साक्ष्यों पर आधारित है।

किन्तु इन तीनों शर्तो के होने पर भी स्मिथ यह नहीं जानता कि 'ख' सत्य है। वास्तव में 'ख' प्रतिज्ञप्ति की सत्यता का आधार स्मिथ की जेब में सिक्कों का होना है, जिसकी उसे जानकारी नहीं है। 'ख' प्रतिज्ञप्ति में विश्वास का आधार जोन्स की जेब में सिक्कों का होना था। अतः स्मिथ का विश्वास असत्य है। यदि स्मिथ से यह प्रश्न पूछा जाता है कि किस व्यक्ति को नौकरी मिलेगी? तो भी स्मिथ जो विश्वास व्यक्त करता (जोन्स को नौकरी मिलेगी) वह असत्य होता। इस उदाहरण के द्वारा गेटियर यह सिद्ध करना चाहता है कि ज्ञान की परिभाषा के लिये परम्परागत् शर्ते अपर्याप्त हैं। अतः ज्ञान की परम्परागत परिभाषा संशोधनीय है।

द्वितीय उदाहरण - मान लीजिये कि स्मिथ निम्नलिखित प्रतिज्ञप्ति में विश्वास करने के लिये एक सबल साक्ष्य रखता है -

(अ) जोन्स एक फोर्ड (कार) का मालिक है।

स्मिथ ने हमेशा जोन्स को फोर्ड कार के साथ अतीत में देखा। जोन्स ने कार चलाते समय स्मिथ को कार पर बैठने के लिये आमंत्रित भी किया, इत्यादि। कल्पना कीजिये कि स्मिथ का एक अन्य मित्र ब्राउन है, जिसके आवास-स्थान के बारे में स्मिथ को जानकारी नहीं है।

स्मिथ आकस्मिक रूप से तीन स्थानों को चुनता है और निम्नलिखित तीन प्रतिज्ञप्तियों की रचना करता है।

(ब) या तो जोन्स फोर्ड का मालिक है या ब्राउन बोस्टन (Boston) में है।

(स) या तो जोन्स फोर्ड का मालिक है या ब्राउन बार्सिलोना (Barcelona) में है।

(द) या तो जोन्स फोर्ड का मालिक है या ब्राउन ब्रेस्टलिटोस्क (Brestlitovsks) में है।

'अ' प्रतिज्ञप्ति 'ब', 'स' और 'द' को अनुलग्न करती (Entails) है। मान लीजिये कि स्मिथ 'अ' के आधार पर 'ब' 'स' और 'द' को स्वीकार करता। स्मिथ के पास 'अ' में विश्वास करने का पर्याप्त आधार है। अतः स्मिथ 'ब', 'स' और 'द' प्रतिज्ञप्तियों में विश्वास करने के लिये भी युक्तिसंगत आधार रखता है। वास्तव में स्मिथ को ब्राउन के निवास स्थान के बारे में कोई जानकारी नहीं है कि वह किस शहर में रहता है। 'यदि जोन्स के पास फोर्ड है' को सत्य मान लिया जाय तो तीनों वैकल्पिक प्रतिज्ञप्तियां, अर्थात् 'ब', 'स' और 'द' सत्य होंगी। वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति का एक विकल्प सत्य होने पर पूरी 'प्रतिज्ञप्ति' सत्य हो जाती है।

अब गेटियर एक अन्य स्थिति की कल्पना करता है मान लीजिये कि जोन्स के पास अपनी निजी फोर्ड नहीं है, बल्कि वह किराये की कार चलाता है। स्मिथ की बिना जानकारी के 'स', 'प्रतिज्ञप्ति' 'या तो जोन्स के पास फोर्ड है या ब्राउन बार्सिलोना में है', सत्य है। 'स' की सत्यता का

आधार 'अ' है। किन्तु 'अ' असत्य है। यहां पर ज्ञान की परम्परागत परिभाषा में उल्लिखित तीनों शर्ते विद्यमान हैं-

(क) 'स' सत्य है।

(ख) स्मिथ विश्वास करता है कि 'स' है।

(ग) 'स' में विश्वास करने का आधार 'अ' है, जिसके लिये स्मिथ के पास सबल साक्ष्य है।

यहां पर ध्यान देने योग्य बात है कि 'स' की सत्यता में विश्वास का आधार यह है कि 'स' 'अ' के द्वारा अनुलग्न होता है। यद्यपि स्मिथ के पास 'अ' (जोन्स एक फोर्ड (कार) का मालिक है) में विश्वास करने के लिये सबल साक्ष्य है, किन्तु 'अ' असत्य है। इससे स्पष्ट है कि परम्परागत परिभाषा में ज्ञान की पर्याप्त शर्तो कानिरूपण नहीं किया गया है, अर्थात् ज्ञान की परम्परागत परिभाषा में उल्लिखित तीनों शर्ते पर्याप्त नहीं है।[7]

गेटियर के ही समान **ए.माइनॉग** (1906) और **बर्ट्रेन्ड रसेल** ने भी ज्ञान की परम्परागत परिभाषा में संशोधन की आवश्यकता पर बल दिया था। रसेल के अनुसार ऐसे सत्य विश्वास का उदाहरण देना सरल है जिसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। उसने एक घड़ी का उदाहरण दिया है। कोई व्यक्ति एक ऐसी घड़ी की ओर देखता है, जो बंद है । वह घड़ी को उस क्षण देखता है जब वास्तव में वहीं समय है, जिसे घड़ी की सुइयां दिखा रही है। यद्यपि घड़ी बन्द है, तथापि वह सोचता है कि घड़ी चल रही है। 'सत्य विश्वास' के होने पर भी इसे 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता है।[7a]

गेटियर के द्वारा परम्परागत ज्ञान की परिभाषा के विरूद्ध किये गये आक्षेप के प्रति विभिन्न दार्शनिकों ने पृथक-पृथक रूप में अपनी प्रतिक्रियाएं व्यक्त की है। कुछ आलोचकों के अनुसार गेटियर की युक्ति वैद्य नहीं है।

7- *Is Justified to Belief Knowledge.* Gettier. Analysis. 23(1963) P. 121-123

7a- Russell. B.. *Human Knowledge : its Scope and Limits.* Allen and Unwin : London. 1948. P. 155

वे गेटियर के सिद्धान्तों को अस्वीकार कर देते हैं। **आर.अलमेडर (R. Almeder)** के अनुसार गेटियर का साक्ष्य (**Proof**) इस अपरीक्षित मान्यता पर आधारित है कि ज्ञान के लिये दिया गया पर्याप्त साक्ष्य (**Sufficient Evidence**) सत्य को नहीं अनुलग्न करता है। इस प्रकार कोई व्यक्ति किसी असत्य प्रतिज्ञप्ति में प्रमाण पूर्वक विश्वास कर सकता है। गेटियर के द्वारा निर्दिष्ट असत्य विश्वास को प्रमाणित करने वाला साक्ष्य निर्णायक नहीं है। किन्तु ज्ञान के लिए निर्णायक साक्ष्य आवश्यक होता है। वस्तुतः आगमनात्मक साक्ष्य (प्रमाण) और सत्य के बीच में कुछ न कुछ अन्तराल (**Gap**) अवश्य बना रहता है। कुछ आलोचक गेटियर के द्वारा दिये गये उदाहरण को एक प्रति उदाहरण (**Counter-Expample**) के रूप में स्वीकार करने से इंकार कर देते हैं।

वस्तुतः गेटियर के द्वारा प्रस्तुत प्रति-उदाहरणों में दिया गया साक्ष्य सत्य और असत्य दोनों प्रकार के कथनों को प्रमाणित करता है। **चिशोम (Chisholm)** के अनुसार ज्ञान के लिये यह आवश्यक है कि विश्वास सत्य होने के साथ-साथ ज्ञाता के लिये निर्दोष रूप से प्रमाणित (**Non-Defectively evident**) हो,[8] अर्थात् हमारा साक्ष्य (प्रमाण) ऐसा नहीं होना चाहिये जो असत्य कथनों को प्रमाणित करे। ज्ञान के लिए पर्याप्त अथवा निर्णायक साक्ष्य वही हो सकता है, जो केवल सत्य प्रतिज्ञप्तियों को प्रमाणित करता हो। इसलिये गेटियर के द्वारा दिया गया प्रमाण पर्याप्त नहीं है।

ज्ञान की चतुर्थ शर्त

कुछ दार्शनिकों के अनुसार गेटियर के द्वारा उठाई गई समस्या महत्वपूर्ण है। वे इससे सहमत हैं कि ज्ञान के लिये सत्य, विश्वास और प्रमाण अनिवार्य शर्त होते हुए भी पर्याप्त नहीं हैं। गेटियर के आक्षेप से

---

8 - Chisolm. R.M.. *Theory of Knowledge*. Prentice Hall. New Delhi. 1977. P. 109-110

बचने के लिए एक चौथी शर्त का सुझाव दिया गया है। ज्ञान की चौथी शर्त क्या है? इस प्रश्न को लेकर भी दार्शनिकों में मतभेद है।

(1) मूर का प्रस्ताव- यह उल्लेखनीय है कि गेटियर के पहले मूर ने ज्ञान के लिये चौथी शर्त की आवश्यकता पर बल दिया था। उसके अनुसार उपयुक्त ज्ञान की तीन प्रमुख शर्तें हैं-

(क) किसी प्रतिज्ञप्ति का साक्षात् बोध ।

(ख) साक्षात् बोध के साथ-साथ उस प्रतिज्ञप्ति में विश्वास।

(ग) साक्षात् रूप से बोधगम्य प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना।

(घ) तथा इन तीनों शर्तों के अतिरिक्त एक चौथी शर्त भी आवश्यक है। किन्तु यह चौथी शर्त क्या हो, इसे बताना या इसे तय करना अत्यंत कठिन है।[9]

(2) साक्ष्य की अपराजेयता - ज्ञान की चौथी शर्त के विषय में **कीथ लेहरर** का सुझाव भी उल्लेखनीय है। लेहरर सत्य विश्वास और साक्ष्य के साथ-साथ साक्ष्य के औचित्य और निर्दोषता पर भी बल देता है। 'जिस साक्ष्य के आधार पर कोई व्यक्ति किसी कथन में विश्वास करता है, उसे असत्य कथनों पर आधारित नहीं होना चाहिये, चाहे वह अनुमान का आधार वाक्य हो अथवा नहीं। कीथ लेहरर (**Keith Lehrer**) के अनुसार साक्ष्य अपराजेय (**Indefeasible**) होना चाहिये।'[9a]

अधिकांश दार्शनिक के अनुसार ज्ञान-स्थिति (**Knowledge-Situation**) में असत्य विश्वास का अवैद्य प्रवेश ही समस्या के मूल में है। इसलिये दार्शनिकों ने इससे छुटकारा पाने के लिये प्रयास किया। किन्तु असत्य विश्वास से मुक्ति पाना आसान कार्य नहीं है। 'हमारा साक्ष्य असत्य कथनों को न प्रमाणित करे', इसकी गारन्टी कैसे दी जाय? इस समस्या को देखते हुए यह सुझाव दिया जा सकता है कि सभी असत्य कथनों को

9- Moore G.E., *Some Main Problems of Philosophy*. Allen and Unwin. London. 1953. P. 80-81
9a- *Knowledge* Keith Lehrer. P. 21

प्रमाणीकरण के क्षेत्र मे दूर करना आवश्यक नहीं है, केवल ज्ञान के लिये हानिकारक असत्य विश्वासों को दूर करने की आवश्यकता है। वस्तुतः ज्ञान के लिए अपराजेय प्रमाणीकरण सबसे महत्वपूर्ण अवाश्यकता है । किन्तु समस्या यह है कि कभी-कभी 'सत्य' और 'प्रमाण' एक दूसरे से अलग होते हैं। यदा-कदा 'सत्य' और 'साक्ष्य' का सम्बन्ध मात्र सांयोगिक होता है। दोनों में अनिवार्य अथवा अंतरंग सम्बन्ध का अभाव पाया जाता है। 'सत्य' और 'साक्ष्य' के सांयोगिक सम्बन्ध को अनिवार्य सम्बन्ध के रूप में परिणत करने के लिये कारणतावादियों ने **'विश्वास के कारण'** को ज्ञान की **चतुर्थ शर्त** (**The fourth Condition of Knowledge**) के रूप में प्रतिपादित किया।

(3) कारणात्मक सिद्धान्त (The Casual Theory) - इस सिद्धान्त के समथकों में **ए.आई. गोल्डमैन (Alvin. I. Goldman) और मार्शल स्वेन (Marshall Swain)** का नाम उल्लेखनीय है। गोल्डमैन के अनुसार गेटियर के द्वारा दिये गये उदाहरण में सत्य विश्वास का कारण कोई 'तथ्य' नहीं है। 'ब्राउन बार्सिलोना में रहता है 'इस विश्वास की सत्यता का कारण कोई ऐसा तथ्य नहीं है जिसके आधार पर स्मिथ इसे स्वीकार करता है। इससे सिद्ध होता है कि गेटियर के द्वारा दिये गये दृष्टान्त में विश्वास और सत्य के बीच में कोई कारण मूलक कड़ी नहीं है। स्मिथ के विश्वास का सत्य होना संयोगवश (आकस्मिक) है।[10] **मार्शल स्वेन** भी कारणात्मक प्रक्रिया को अपनाता है और इसे अपराजेयता (**Indefeasibility**) के साथ संयुक्त करना चाहता है। उसके अनुसार विश्वास के कारण के रूप में किसी तथ्य का होना पर्याप्त नहीं है, बल्कि कारणात्मक श्रृंखला (**Casual-Chain**) को दोषरहित होना चाहिये; अर्थात विश्वास (उचित) कारणों पर आधारित हो और साथ-साथ कारणात्मक श्रृंखला निर्दोष हो।

10- A Causal Theory of Knowing. *Journal of Philosophy* (1967 Part 64) P. 355-72

कारणात्मक सिद्धान्त को स्वीकार करने में कुछ कठिनाइयां निम्नलिखित हैं- (क) गोल्डमैन के द्वारा प्रयुक्त 'तथ्य' (Fact) शब्द का प्रयोग और अर्थ अस्पष्ट है। यह मान्यता कि तथ्य किसी विश्वास का कारण हो सकता है आसानी से स्वीकार नहीं की जा सकती है। विश्वासों के मानसिक जगत का कारण किन तथ्यों को माना जाय? इसके उत्तर में यह कहा जा सकता है कि वे सत्य प्रतिज्ञप्तियों के समान अथवा सत्य प्रतिज्ञप्तियों से अभिन्न होते हैं। किन्तु पुनः प्रश्न, उठता है कि क्या सत्य प्रतिज्ञप्ति किसी घटना का कारण हो सकती है? वस्तुतः सत्य प्रतिज्ञप्ति जगत् को प्रतिबिम्बित करती है। इसके अतिरिक्त **जगत् तथ्यों की समग्रता है अथवा वस्तुओं की समग्रता** है, इस विषय पर समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक एकमत नहीं है।

(ख) इस सिद्धान्त के आधार पर भविष्य सम्बन्धी ज्ञान कैसे सम्भव हो सकता है? कारणता-सिद्धान्त की दृष्टि से विचार किया जाय तो 'भविष्य का ज्ञान' कार्य है और 'तथ्य' उसका कारण है। किन्तु कारण-कार्य का नियत पूर्ववर्ती होता है। यदि ऐसा है तो इस समय (वर्तमान काल) भविष्य के ज्ञान (कार्य) का कारण भावी (Future) तथ्य को कैसे माना जाय? उदाहरण के लिये, 'आगामी पूर्णिमा को चन्द्रग्रहण होगा यह एक सत्य विश्वास हो सकता है। किन्तु इस ज्ञान का कारण कल घटित होने वाले तथ्य (चन्द्रग्रहण) को कैसे स्वीकार किया जा सकता है? जो तथ्य (चन्द्रग्रहण) कल (पूर्णिमा) घटित होगा, उसे आज इस सत्य विश्वास के अनुरूप कैसे माना जाय? 'सब मनुष्य मरणशील हैं', मेरे इस विश्वास का कारण यह तथ्य नहीं है कि सब मनुष्य मरणशील है, क्योंकि इस सत्य विश्वास का कारण किसी तथ्य को माना भी जाय तो वह तथ्य विशेष मनुष्य ही होंगे, न कि सब मनुष्य। सब मनुष्यों को मरते हुये कोई नहीं देख सकता है।

(ग) एक दूसरी जटिल समस्या यह है कि कारणात्मक सिद्धान्त को ज्ञान की चतुर्थ शर्त मान लेने पर 'असत्य विश्वास' का प्रमाणीकरण असम्भव हो जायेगा। क्योंकि असत्य विश्वास का कारण कोई तथ्य नहीं हो सकता है। यदि कोई प्रतिज्ञप्ति असत्य है तो इसका अर्थ यह है कि उसके अनुरूप कोई तथ्य नहीं है।[11]

निष्कर्ष रूप में कहा जा सकता है कि इस सिद्धान्त को स्वीकार करने से प्रत्येक न्यायोचित विश्वास का कारण एक तथ्य को मानना पड़ेगा जो इसे सत्य बनाता हो। जो भी विश्वास न्यायोचित तथा सत्य होगा उसे ज्ञान कहा जा सकता है। किन्तु सत्य विश्वासों के साथ-साथ ऐसे विश्वासों का प्रमाणीकरण भी सम्भव है जो बाद में असत्य सिद्ध हो जाते हैं। इससे सिद्ध होता है कि कारणात्मक सिद्धान्त के द्वारा भी ज्ञान की तर्कसंगत व्याख्या नहीं हो सकती है।

कुछ दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान के विश्लेषण के लिये कारणता की श्रृंखला को अपनाना आवश्यक नहीं है। विश्वास के प्रमाणीकरण का आधार 'आनुभविक विश्वसनीयता' (**Empirical Reliability**) को माना गया है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक **डी.एम.आर्मस्ट्रांग (D.M. Armstrong)** हैं। उन्होंने अपने ग्रंथ **'विश्वास, सत्य और ज्ञान' (Belief, Truth and Knowledge)** में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है कि ज्ञान आनुभविक रूप से विश्वसनीय (**Empiricilly reliable**) विश्वास है। यह उल्लेखनीय है कि आनुभविक विश्वसनीयता का सिद्धान्त कारणात्मक और कारणेतर (Acausal) दोनों प्रकार की विश्वसनीयता के प्रति तटस्थ है। कुछ दार्शनिक (जैसे आर्मस्ट्रांग) विश्वसनीयता के लिए किसी कारण को मानना आवश्यक नहीं समझते हैं, जबकि कुछ विचारक इसे आवश्यक मानते हैं।

11- Dancy, Jonathan. *An Introduction to Contemporary Epistemology*. Basil Blackwell : New York. 1985. P 35

कारणात्मक विश्वसनीयता का सिद्धान्त भी हमारे विश्वासों के प्रमाणीकरण की व्याख्या करने में असमर्थ है। यदि प्रमाणीकरण की व्याख्या पूर्णतः वाह्य सम्बन्धों के आधार पर की जाए तो हमारे प्रमाणीकरण की मूलभूत अन्तर्दृष्टियों (**Basic Intutions**) का उल्लघंन हो जाएगा। कारणात्मक कारक (**Causal Factor**) अर्थात तथ्य के वाह्य होने से विश्वास के प्रमाणीकरण की समस्या का संतोषजनक समाधान नहीं हो पाता है।

(4) ज्ञान का सोपाधिक सिद्धान्त (The Conditional Theory of Knowledge) -

इस सिद्धान्त के प्रमुख प्रणेता **राबर्ट नोजिक (Robert Nozick)** है। उनके अनुसार किसी विश्वास को ज्ञान में परिणत करने के लिए उसे सत्य के मार्ग का अनुगमन करना चाहिये, अर्थात उसे सत्य के प्रति वफदार होना चाहिये। यदि वदली हुई परिस्थितियों में यदि कोई प्रतिज्ञप्ति सत्य हो, तो भी उसमें विश्वास किया जाना चाहिये। यदि वह प्रतिज्ञप्ति असत्य हो तो उसमें विश्वास नहीं करना चाहिये। नोजिक ज्ञान के लिए आवश्यक चार शर्तो का उल्लेख इस प्रकार करता है ।

यदि 'स' कोई व्यक्ति है और वह किसी प्रतिज्ञप्ति 'प' को जानता है तो 'प' के ज्ञान के लिए निम्नलिखित शर्ते आवश्यक हैं -

(क) 'प' है।

(ख) 'स' विश्वास करता है कि 'प' है।

(ग) यदि 'प' सत्य न होता तो 'स' 'प' में विश्वास न करता।

(घ) यदि परिवर्तित परिस्थितियों में 'प' सत्य हो तो सभी 'स' को 'प' में विश्वास करना चाहिये।

नोजिक की व्याख्या से सिद्ध होता है कि न्यायोचित (प्रमाणित) विश्वास वही हो सकता है, जो सत्य हो। किन्तु समस्या यह है कि असत्य विश्वास

भी प्रमाणित हो सकता है। कुछ आलोचकों के अनुसार यह सिद्धान्त कारणात्मक सिद्धान्त का ही एक परिवर्तित रूप है। दोनों में अन्तर यह है कि जहां कारणात्मक सिद्धान्त विश्वास और तथ्य में सुनिश्चित कार्य-कारण सम्बन्ध की अवधारणा पर विशेष बल देता है, वहीं इस सिद्धान्त (the Conditional theory) के अनुसार यह सम्बन्ध कारणात्मक अथवा किसी अन्य तरीके से भी हो सकता है। नोजिक कारणता पर अधिक बल नहीं देता है। इसलिये सोपाधिक सिद्धान्त कारणात्मक सिद्धान्त की कुछ कठिनाइयों से बच जाता है।

सोपाधिक सिद्धान्त में यह मान्यता अन्तर्निहित है कि न्यायोचित विश्वास (Justified Belief) और सत्य (Truth) में आन्तरिक सम्बन्ध होना चाहिये, अर्थात 'सत्य' न्यायोचित विश्वास का एक घटक है। यदि 'सत्य' को न्यायोचित विश्वास का एक घटक मान लिया जाय तो असत्य विश्वास का प्रमाणीकरण असंभव होगा क्योंकि न्यायोचित विश्वास तो सत्य की पगडंडी पर चलने वाला होता है। किन्तु यह हमारे दैनिक जीवन के अनुभव के विपरीत है। कभी-कभी हमारा न्यायोचित विश्वास असत्य हो जाता है। यहां पर नोजिक असत्य विश्वास के प्रमाणीकरण की व्याख्या करने में असफल हो जाता है। इस कठिनाई के बावजूद सोपाधिक सिद्धान्त में एक अच्छाई यह है कि गेटियर के द्वारा दिये गये उदाहरणों की त्रुटियों की ओर हमारा ध्यान आकर्षित करता है। उसके द्वारा दिये गये उदाहरण में विश्वास का सत्य होना बहुत कुछ संयोग पर निर्भर है। यह केवल एक आकस्मिक संयोग है कि स्मिथ का विश्वास (या तो जोन्स फोर्ड का मालिक है या ब्राउन बार्सिलोना में रहता है) सत्य हो गया। 'सोपाधिक सिद्धान्त' में कुछ ऐसे विचारणीय बिन्दु है जिनके द्वारा ज्ञान और निश्चितता मे सम्बन्ध की व्याख्या की जा सकती है। यदि कोई व्यक्ति 'प' को जानने का दावा करता है तो यदि 'प' सत्य न हो तो वह 'प' में विश्वास नहीं करेगा। इसके

विपरीत यदि 'प' सत्य है तो वह (विश्वासकर्ता) 'प' में विश्वास करेगा। किन्तु यदि वह 'प' के विषय में निश्चित तो तभी ऐसा दावा कर सकता है, अन्यथा नहीं। नोजिक के इस सुझाव से स्पष्ट है कि ज्ञान और निश्चितता में घनिष्ट सम्बन्ध है।

(4) ज्ञान और निश्चितता (Knowledge and Certainty) -

'ज्ञान' और 'निश्चितता' एक दूसरे से सम्बन्धित होते हुये भी भिन्न प्रकार की अवधारणायें हैं। सब लोगों का निश्चय भी ज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं है। **ए.जे.एयर (A.J. Ayer)** के अनुसार सत्य और विश्वास के साथ-साथ **निश्चित होने का अधिकार** रखना (Right to be sure) भी ज्ञान के लिये एक आवश्यक शर्त है।[12] यह निश्चित होने का अधिकार अनेक तरीकों से अर्जित किया जा सकता है। यदि कोई व्यक्ति निश्चित होने के तरीकों का पूर्ण वर्णन प्रस्तुत भी करे तो इसे ज्ञान की परिभाषा में सम्मिलित करना दोषपूर्ण होगा। वस्तुतः ज्ञान की संभावना के बारे में कुछ दार्शनिकों (जैसे संशयवादियों) के द्वारा उठाये गये प्रश्न ज्ञान की परिभाषा देकर हल नहीं किये जा सकते हैं। यहां तक कि निश्चित होने के औचित्य के विषय में भी प्रश्न उठाये जा सकते हैं। हम साक्ष्यों के अभाव में किसी कथन में निश्चिततापूर्वक विश्वास नहीं कर सकते हैं। यदि विश्वास का कोई तार्किक औचित्य न हो, तो निश्चित होने का अधिकार रखना एक आत्मनिष्ठ धारणा (Ubjective Conviction) मात्र होगा। किन्तु ऐसी आत्मनिष्ठ धारणायें मनोविज्ञानिक हैं, तार्किक नहीं।

चिशोम ने 'मैं निश्चित हूं' (I am Sure) पदावली का परित्याग किया है वह इसके स्थान पर 'स्वीकार करना' (Accept) पद का प्रयोग करता है। चिशोम 'मैं निश्चित हूं' (I am sure) का प्रयोग न करके यह दिखाना चाहता है कि ज्ञान आत्मनिष्ठ निश्चय नहीं है। अपने बहुत से

12- A. J. Ayer. *The Problem of Knowledge*. Penguin Books. 1956. P. 35

प्रयोगों में 'निश्चित होना, केवल आत्मनिष्ठ और मनोवैज्ञानिक निश्चय को ही व्यक्त करता है। अतः इसे ज्ञान की पर्याप्त की शर्त के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। चिशोम ज्ञान की परम्परागत शर्तों के स्थान पर निम्नलिखित शर्तों का उल्लेख करता है-[14]

(1) 'स' 'प' को स्वीकार करता है।

(2) 'प' सत्य है।

(3) 'प' 'स' के लिए निर्दोष रूप से स्पष्ट है।[15]

चिशोम ज्ञान को एक मानसिक घटना (Episodic) के रूप में स्वीकार करता है। प्रश्न उठता है कि यदि किसी व्यक्ति 'स की मानसिक अवस्था 'प' (प्रतिज्ञप्ति) को स्वीकार करने की है,' तो क्या उसे अनिवार्य रूप से' 'प' के विषय में निश्चित नहीं होना चाहिये? यह कहना कि 'मैं 'प 'को स्वीकार करता हूं', 'किन्तु 'मैं 'प' के विषय में निश्चित नहीं हूं', तर्कतः सम्भव है। इसके विपरीत यह कहना कि 'मैं' 'प' को जानता हूं', लेकिन 'मैं 'प' के विषय में निश्चित नहीं हूं 'अर्थात 'प' के विषय में निश्चित रूप से नहीं जानता हूं एक वदतोव्याघात (Contradiction in terms) होगा। ज्ञान के लिए निश्चितता आवश्यक है। अतः 'स्वीकार करता हूं का प्रयोग 'निश्चित हूं' के अभाव की पूर्ति नहीं कर सकता है। चिशोम की मान्यतानुसार यदि किसी प्राक्कल्पना' 'प' के लिए हमारे पास पर्याप्त प्रमाण हो तो उसे स्वीकार करना तर्कसंगत है,' जबकि 'गैर-प' (Non-H) को स्वीकार करना असंगत है। चिशोम ने 'प्राक्कल्पना' 'प' स्पष्ट रूप से प्रमाणित है,' की परिभाषा "प" 'गैर-प' (Non-H) की अपेक्षा तर्कसंगत है,[16] के रूप में दिया है। वह "प" 'गैर-प', की अपेक्षा तर्कसंगत है" की

14-Chisolm. R. M. *Theory of Knowledge* Prentice Hall. New Delhi. 1977. P 110

15- P is non-defectively evident for S.

16- H is more reasonable than non-H.

परिभाषा ऐसे बुद्धिजीवी अथवा तार्किक प्राणी के संदर्भ में करता है,' जिसका सम्बन्ध पूर्णतया बौद्धिक क्रिया मे है।[17]

ज्ञान के निश्चितता का अनुभव करना आवश्यक होने पर भी दोनों एक दूसरे मे नितान्त भिन्न है। किसी कथन अथवा प्रक्कल्पना की 'निश्चितता का अनुभव करना', और 'उस कथन का वास्तव में सत्य होना' दोनों बिल्कुल अलग-अलग बातें हैं, 'अर्थात निश्चितता का अनुभव करना सत्य होने की गारंटी नहीं प्रदान करता है। **विट्गेन्श्टाइन** के अनुसार,' 'ज्ञान' (Knowledge) और 'निश्चितता' (Certainty) पृथक-पृथक कोटियों (Catogories) मे सम्बन्धित हैं। वे 'अनुमान या गेस करने (Surmising) और 'निश्चित' होने (BeingSure) के समान दो मानसिक अवस्थायें (MentalStates) नहीं हैं।[18] विटगेन्श्टाइन कहता है कि मैं कोई चीज जानता हूं अथवा नहीं, यह इस पर निर्भर करता है कि सम्बन्धित प्रमाण मेरा समर्थन करता है अथवा व्याघाती है। यह दावा करना कि अमुक कथन निश्चित है, यह सूचित करता है कि उसके लिए कोई प्रमाण आवश्यक नहीं है। ऐसे कथनों की स्वीकृति भाषिक अभ्यासों में निहित होती है। इसके विपरीत यदि कोई कहता है कि मैं जानता हूं तो वह जिसे जानता है उसके विषय में निश्चित प्रमाण देने के लिए तैयार रहता है। वास्तव में विटगेनश्टाइन और उसके अनुयायियों ने ज्ञान के सम्बन्ध में जिस निश्चितता का निषेध किया है वह आत्मनिष्ठ निश्चितता है। उसके अनुसार वस्तुनिष्ठ निश्चितता प्रमाणों पर आधारित नहीं होती है। यहां पर निश्चितता का अर्थ है: तार्किक दृष्टि मे किसी भूल का सम्भव न होना। यह वस्तुनिष्ठ

17- *चिशोम आन नोइंग एण्ड बिलीविंग*, शिवजीवन भट्टाचार्य (नालेज, कल्चर एण्ड वैल्यू मे सम्मिलित।

18- *आन सरटेनटी* अनु. 308 .

निश्चितता 'वक्ता' के भाषिक समुदाय (Speaker's Linguistic Community) में विशेष भूमिका अदा करती है।[19]

विटगेन्स्टाइन और उसके अनुयायियों ने संशयवाद के आक्षेप से बचने के लिए ज्ञान को निश्चितता से असम्बद्ध किया। संशयवाद 'आत्मनिष्ठ निश्चितता' का विरोधी है। विटगेन्श्टाइन का यह मत सत्य है कि 'ज्ञान' और 'निश्चितता', एक दूसरे से भिन्न संप्रत्यय है। किन्तु ज्ञान के होने पर निश्चितता का अनुभव न करना ज्ञाता के ज्ञान के प्रति एक प्रश्न चिन्ह है। यह एक मनोवैज्ञानिक असंभावना है कि 'ज्ञाता' 'ज्ञान' के होने पर भी निश्चय का अनुभव न करे। 'मैं जानता हूँ' कि 'प' है,' किन्तु मैं 'प' के विषय में निश्चित नहीं हूँ', यह कहना असंगत है। इससे ज्ञान की एक'महत्वपूर्ण विशेषता विश्वासोत्पादकता वाधित हो जाती है विश्वास के लिये भी निश्चितता आवश्यक है। ज्ञान के सम्बन्ध में निश्चितता का प्रयोग केवल उसके मनोवैज्ञानिक अर्थों में ही नहीं होता है। 'ज्ञान' की निश्चितता का आधार अपराजेय और अभ्रान्त प्रमाण भी हो सकता है।

(5) ज्ञान की अपरिभाष्यता - कुछ दार्शनिकों के अनुसार ज्ञान और विश्वास एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न मानसिक अवस्थायें है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक **जान कुक विलसन** (Jone Cook Wilson) और **एच.ए.प्रिचर्ड (H.A. Prichord)** है। उनके अनुसार ज्ञान एक अद्धितीय (Unique) और अभ्रान्त (Infallible) मानसिक अवस्था है। ज्ञान पूर्णतया अनुपम,' स्वजातिक (Sui- generis) और मौलिक है। उसके अनुरूप अथवा समकक्ष अन्य कोई समप्रत्यय या संज्ञान नहीं हो सकता है। अतः यह अपरिभाष्य और अभ्रान्त मानसिक अवस्था है, अर्थात ज्ञान की परिभाषा सत्य विश्वास के रूप में नहीं दी जा सकती है, भले ही वह विश्वास प्रमाणित हो। हम अपरोक्ष रूप से जानते हैं कि हमारी मानसिक

19-*सरटेनटी : ए रिफूटेशन ऑव स्केप्टिसिज्म,* पृ. 129-30

अवस्था जानने की है अथवा विश्वास करने की है। ज्ञान और विश्वास एक दूसरे से गुणात्मक रूप में भिन्न मानसिक अवस्था है। वे इस सिद्धान्त से असहमत हैं कि 'ज्ञान' एक प्रमाणयुक्त सत्य विश्वास है।' उसके अनुसार 'ज्ञान', ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। ज्ञान की कोई शर्त अथवा परिभाषा नहीं हो सकती है। प्रिचर्ड 'जानने' (Knowing) को एक अभ्रान्त और विवेकपूर्ण निश्चितता (Certainty) कहता है, अर्थात् उसने ज्ञान की व्याख्या एक अभ्रान्त निश्चितता के रूप में की है।[20]

यदि ज्ञान को एक असंदिग्ध और अभ्रान्त मानसिक अवस्था माना जाय तो ज्ञान और विश्वास एक दूसरे से पूर्णतया (अतिशय) भिन्न होंगे। इस दृष्टि से ज्ञान की परिभाषा विश्वास के रूप में नहीं दी जा सकती है। दूसरे शब्दों में,'विश्वास को जाति (Genus) और ज्ञान को उसकी उपजाति (Species) नहीं कहा जा सकता है। इस दृष्टि से ज्ञान की परिभाषा एक न्यायोचित और सत्य विश्वास के रूप में नहीं दी जा सकती है।

किन्तु अनेक समकालिक दार्शनिकों ने इस सिद्धान्त की कटु आलोचना की है।

प्रिचर्ड के द्वारा प्रतिपादित 'निश्चितता' दुर्बोध और अस्पष्ट है। यदि ज्ञाता आत्म-विश्लेषण और आत्म-निरीक्षण (Self Introspection) करने के बाद स्वयं को संशय की अवस्था में पाता है, जो ऐसी निश्चितता (जिसका प्रिचर्ड ने उल्लेख किया है) विघटित (Disolve) हो जाएगी। ऐसी स्थिति में जिसे प्रिचर्ड ने 'ज्ञान की मानसिक अवस्था' कहा है, 'उसे ज्ञान की अपेक्षा 'विश्वास की मानसिक अवस्था' कहना अधिक तर्कसंगत होगा। अतः प्रिचर्ड के द्वारा प्रतिपादित निश्चितता को एक निर्बल सांत्वना अथवा तसल्ली देने

20-**देखिये रिलेशन आव नोइंग टू थिंकिंग, (नालेज एण्ड बिलीफ, संपादक फिलिप्स)**

वाली निश्चितता कहा गया है।[21]

यदि ज्ञान को मानसिक अवस्था माना जाय तो बिना इस अवस्था को प्राप्त हुये कोई व्यक्ति किसी चीज को नहीं जान सकता है। हमें इस भ्रमातीत मानसिक अवस्था को ज्ञान की अनिवार्य और पर्याप्त शर्त मानना होगा। यदि ज्ञान को अपरिभाष्य अविश्लेष्य, 'भ्रमातीत (Infallible) मानसिक अवस्था माना जाय तो इसके अस्तित्व को जानना असंभव जायगा। इसके अतिरिक्त, 'यदि कोई व्यक्ति अपने विश्वास के प्रति दृढ़ धारणायुक्त अथवा निश्चित हो, तो ज्ञान और विश्वास में पृथक-पृथक मानसिक अवस्थाओं के रूप में भेद करना असम्भव हो जायेगा। दूसरे शब्दों में ज्ञान और विश्वास के बीच दो भिन्न मानसिक अवस्थाओं के रूप में भेद नहीं किया जा सकता है।[22] यद्यपि कोई व्यक्ति अपने विश्वास के प्रति दृढ़ निश्चय से युक्त हो सकता है, किन्तु उस विश्वास के असत्य हो जाने पर वह 'दृढ़ निश्चितता युक्त विश्वास' ज्ञान की संज्ञा से वंचित हो जायेगा।

जे.एल.आस्टिन भी ज्ञान को मानसिक अवस्था मानने के विरूद्ध है। इनके अनुसार 'मैं जानता हूं (I Know) का घनिष्ठ सम्बंध 'मैं वादा करता हूं' (IPrpmise) से है। 'जानना' इसी क्रिया के सम्पादन की गारन्टी देता है। 'मैं जानता हूं' यह वाक्यांश न तो किसी मानसिक अवस्था का वर्णन करता है, और न ज्ञाता के किसी विश्वास को व्यक्त करता है। यह वाक्यांश सम्बन्धित कार्य के सफलतापूर्वक सम्पादन की गारन्टी प्रदान करता है।

(6) **जानना': एक संपादनात्मक क्रिया के रूप में** (Know performative verb) जे.एल. आस्टिन के अनुसार जब 'जानना' क्रिया

21- ***रीजन एन्ड आर्गूमेन्ट***, पी. टी गीच, **खण्ड** 3 **में देखिये 'निर्णय' (Judgement)** पृ. 14–17

22- ***दि प्राब्लम आव नालेज***, एयर, पृ. 14 .

का प्रयोग उत्तम पुरुष, एकवचन तथा वर्तमान काल में किया जाता है, तो इसका व्यापार संपादनात्मक (Performative) होता है। 'मैं जानता हूं', इस वाक्यांश को किसी संज्ञानात्मक अवस्था का वर्णन कहना दोषपूर्ण होगा। आस्टिन इसे 'वर्णनात्मक दोष' (Descriptive Fallacy) कहता है।[23] इसके अनुसार 'जानना' एक संपादनात्मक क्रिया है।[24]

चिशोम के अनुसार कभी-कभी 'मैं जानता हूं' वाक्यांश का प्रयोग 'मैं वादा करता हूं' से सम्बन्धित हो जाता है। कभी-कभी यह वाक्यांश ज्ञाता के मन में अन्तवस्तु (मानसिक घटना) का संकेत भी करता है। इसके अतिरिक्त 'बिना यह कहे' कि 'मैं जानता हूं' भी जानना सम्भव है। चिशोम के अनुसार 'ज्ञान' को क्रिया के सफलतापूर्वक संपादन तक सीमित कर देना एक 'संपादनात्मक दोष' (Performative Fallacy) है।[25] ऐसे उदाहरण उपलब्ध हैं, 'जिनमें शब्दों संपादन प्रयोग के साथ-साथ उनके वर्णनात्मक प्रयोग (Descriptive use) भी हो सकते हैं।

इस सम्बन्ध में **कीथ लेहरर** का एक उदाहरण उल्लेखनीय है। कोई व्यक्ति होटल के एक बैरा से कहता है,' "मै एक विशेष प्रकार की शराब स्टीनबेरगर बीरेनौसलेस 1959 (Steinberger Beerenusless 1959) पसन्द करूंगा।" उस व्यक्ति ने बैरा को एक विशेष प्रकार की शराब लाने का आदेश देने की क्रिया सम्पन्न करने के साथ-साथ अपनी पसन्द का वर्णन भी कर दिया। यहां पर शब्दों (अथवा वाक्य) का, वर्णनात्मक प्रयोग (Descriptive use) उनके क्रिया-सम्पादनात्मक प्रयोग' (Performative sue) से सुसंगत है। इसलिये शब्दों के प्रयोग का यह द्विविभाजन (Dichotomy) दोषपूर्ण है।[26] वास्तव में भाषा के निर्देषात्मक और अभिव्यक्त्यात्मक कार्य एक साथ सम्पन्न हो सकते हैं, अर्थात ज्ञान

---

23 - *Philosophical Papers* (Ed. J. O. Armsaw). P. 100-101.
24 - "Know" is a Performative verb.
25 - ***थियरि आव नॉलेज*, चिशोम, पृ.** 15–18 .
26 - *Knowledge*. P. 53

प्रतिज्ञप्तियों के माध्यम मे अभिव्यक्त होता है, उनसे एक साथ एक से अधिक कार्य सम्पन्न हो सकते हैं। अतः ज्ञान को केवल सफलतापूर्वक क्रिया-सम्पादन तक ही सीमित नहीं किया जा सकता है।

यदि **आस्टिन** के सिद्धान्त को स्वीकार कर लिया जाय तो 'जानने' में 'जिसे जाना जाता है', उसका सत्य होना प्रतिपन्न नहीं हो सकता है। यह कहना कि 'मैं जानता हूं' (I Know) और 'वास्तव में जानना', एक दूसरे से भिन्न हैं, अर्थात् "मैं जानता हूं" कहने मात्र से यह प्रतिपन्न नहीं होता है कि मेरा जानना सत्य होगा। यहां पर मैं 'जानता हूं' से केवल यह सिद्ध होता है कि मैं जानने का दावा करता हूं (I Claim to Know) यह उल्लेखनीय है कि दार्शनिकों में इस विषय मे पूर्ण सहमति है कि किसी प्रतिज्ञप्ति को जानने से उस प्रतिज्ञप्ति का सत्य होना प्रतिपन्न होता है। किन्तु आस्टिन के सिद्धान्त को स्वीकार करने पर इसका पालन नहीं किया जा सकता है।[27]

(7) ज्ञान मनोवृत्ति के रूप में - ए. जे. एयर और गिलबर्ट राइल ने ज्ञान को एक मनोवृत्ति (Disposition) के रूप में स्वीकार किया है। राइल के अनुसार,' 'जानना' (Know) और 'विश्वास करना' (Believe) दोनों मनोवृत्तियां (Dispositions) हैं। किन्तु 'जानना' (Know) एक 'क्षमतापरक क्रिया' (Capacity Verb) है, जबकि; विश्वास करना, (Beliieving) एक 'प्रवृत्यात्मक क्रिया' (Tendency Verb) है। उसके अनुसार, 'आशा करना,' विश्वास करना इत्यादि सम्बन्धित व्यक्तियों (विश्वास करने वाले) की प्रवृत्ति को व्यक्त करते हैं। उसने विश्वासों की तुलना आदतों से किया है,' जिन्हें अभ्यास (बार-बार करने) से सीखा जाता है। 'जानना' एक ऐसी क्षमतापरक क्रिया है जो हमेशा सही चीज से सम्बन्धित

---

27 - *डाउट, बिलीफ एण्ड नॉलेज*, **शिवजीवन भट्टाचार्य, पृ.** 36 .

होती है।[28] एयर के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान होने पर यह आवश्यक नहीं है कि ज्ञाता हमेंशा अपने ज्ञान को प्रदर्शित ही करता रहे। आवश्यक यह है कि जिसके बारे में जाना जाय उसके बारे में सोचनें पर उसे सही होना चाहिये। यही कारण है कि वह ज्ञान को मानसिक अवस्था नहीं मानता है। यदि ज्ञान को एक मानसिक अवस्था माना जाय तो बिना इस मानसिक अवस्था को प्राप्त हुये कुछ जाना ही नहीं जा सकेगा।[29]

एयर के अनुसार 'जानना' से 'निश्चित होने का अधिकार' प्रतिपन्न होता है। इस अर्थ में 'देखना' (Seeing) भी जानना है। यदि मैं देखता हूं कि दीवार सफेद है तो उसके बारे में (दीवार सफेद है) निश्चित होने का अधिकार रख सकता हूं। इससे स्पष्ट है कि एयर की दृष्टि में 'देखना' भी जानने की एक उपजाति (Species) है। किन्तु यदि 'जानने' का अर्थ 'यह कहना है कि मैं जानता हूं' अर्थात इस अधिकार का 'दूसरों के लिये सम्प्रेषणीय होना है' (जैसा कि आस्टिन का मत है), तो देखने को 'जानना' नहीं कहा जा सकता है। यदि 'मेरा देखना' मुझे जो अधिकार सौंपता (प्रदान करता) है,' उसे मैं दूसरे के लिए सम्प्रेषित नहीं कर सकता हूं,'तो 'देखना' 'जानना' नहीं हो सकता।

यदि ज्ञान को मनोवृत्ति (Dosposition) कहा जाय तो अपने ज्ञान के प्रति सचेत रहना आवश्यक नहीं है। 'मैं जानता हूं', यह हमेशा अन्तर्निरीक्षण का विषय नहीं हो सकता है। संभव है कि कोई व्यक्ति 'प' (प्रतिज्ञप्ति) को जानता हो, किन्तु वह 'प' को भूल गया हो, अर्थात बिना 'प' में विश्वास किये हुये भी 'प' को जानना संभव होगा। यदि ज्ञान को मनोवृत्ति कहा जाय तो 'मैं जानता हूं (IKnow) यह मनोवृत्ति दूसरी मनोवृत्ति 'मैं जानता हूं कि जानता हूं' (I know that I know) के समतुल्य

---

28 - *दि कान्सेप्ट आव माइण्ड*, पृ. 133–34 .

29 - *दि प्राब्लेम आव नॉलेज*, पृ. 15–17 .

(Equivalent) नहीं हो सकती है, अर्थात दोनों भिन्न प्रकार की मनोवृत्तियां हैं। ज्ञान को मनोवृत्ति (Disposition) मानने पर ज्ञाता का अपने ज्ञान के प्रति सचेत रहना आवश्यक नहीं है।

क्रियात्मक ज्ञान और प्रतिज्ञप्ति मूलक ज्ञान (Knowing How and Knowing That)

उल्लेखनीय है कि गिलबर्ट राइल ने 'कैसे जानना' अर्थात क्रियात्मक ज्ञान (Knowing How) और प्रतिज्ञप्ति मूलक, अर्थात सैद्धान्तिक ज्ञान (Knowing That) में स्पष्ट भेद किया है। कुछ परम्परावादी दार्शनिक क्रियात्मक ज्ञान और प्रतिज्ञप्ति मूलक ज्ञान में भेद नहीं करते हैं। उनके अनुसार प्रतिज्ञप्ति मूलक ज्ञान (Knowing That) का सम्बन्ध सैद्धान्तिक सत्यों से है। प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान प्रत्येक क्रियात्मक ज्ञान के लिये आवश्यक होता है। किसी भी क्रिया के सम्पादन के पूर्व उससे सम्बन्धित नियमों और विधियों की जानकारी अपेक्षित होती है। इस दृष्टि से प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान क्रियात्मक ज्ञान की तार्किक प्रागपेक्षा है। किन्तु राइल इस मत का निराकरण करता है। उसके अनुसार ज्ञान के पूर्वोक्त दोनों रूप एक दूसरे से पूरी तरह भिन्न प्रकार के हैं। उनमें कोई अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। राइल ने ज्ञान के इन दोनों रूपों में स्पष्ट भेद किया है। यदि 'प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान' को 'क्रियात्मक ज्ञान' की प्रागप्रेक्षा माना जाय तो **'अनवस्थादोष'** से नहीं बचा जा सकता है क्योंकि क्रियात्मक ज्ञान की प्रागपेक्षास्वरूप नियमों को स्मरण करना भी एक बौद्धिक क्रिया है। अतः इसकी प्रागपेक्षा स्वरूप किसी तृतीय स्तर के नियम की आवश्यकता होगी। स्पष्ट है कि इस क्रम का कभी अंत नहीं हो सकता है।

राइल के अनुसार कभी-कभी ज्ञान के ये दोनों रूप एक दूसरे के समानान्तर रूप में प्रयुक्त होते है। कभी-कभी दोनों के भाषिक व्यवहार समान होते हैं। किन्तु कभी-कभी प्रतिज्ञप्तिमूलक और क्रियात्मक ज्ञान के

भाषिक व्यवहार एक दूसरे के समानान्तर नहीं पाये जाते हैं। उदाहरण के लिये, यदि कोई व्यक्ति कहता है - "मैं जानता हूं कि चन्द्रमा पर वायुमण्डल का अभाव है," इस प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान के लिये साक्ष्य की मांग की जा सकती है। किन्तु क्रियात्मक ज्ञान के लिए किसी साक्ष्य की आवश्यकता नहीं होती है, बल्कि क्रिया का सफल सम्पादन मात्र अपेक्षित होता है। जैसे, 'मैं जानता हूं कि कार कैसे चलाई जाती है,' में कार चलाने के कर्म-कौशल या क्षमता का प्रदर्शन ही पर्याप्त होता है।

वस्तुतः प्रतिज्ञप्तिमूलक (सैद्धान्तिक) ज्ञान का महत्व और उसके प्रति हमारी अभिरूचि उसकी व्यावहारिक उपयोगिता के परिमाण (अनुपात) में होती है। प्रायः क्रियात्मक ज्ञान के प्रति हमारी अभिरूचि और उत्सुकता सैद्धान्तिक ज्ञान की अपेक्षा अधिक होती है । इस आधार पर राइल का दावा है कि कतिपय दार्शनिकों की यह मान्यता है कि प्रतिज्ञप्तिमूलक (सैद्धान्तिक) ज्ञान ही एक मात्र ज्ञान है अथवा कम से कम प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान क्रियात्मक ज्ञान की अपेक्षा अधिक महत्वपूर्ण है, युक्तिसंगत नहीं है।**30** इस संदर्भ में **आर.सी. क्रास ने 'इथिकल डिसेग्रीमेन्ट'** में राइल के मत का समर्थन किया है। उसके अनुसार ज्ञान के इन दोनों रूपों में स्पष्ट भेद किया जा सकता है। जहां 'कैसे जानना'* (Knowing How) नैतिक आचरण (Moral Conduct) के लिये महत्वपूर्ण है, वहीं प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान (Knowing that) की उपयोगिता नैतिक भाषा (Moral Language) के संदर्भ में है।**31**

उल्लेखनीय है कि राइल ज्ञान को एक मनोवृत्ति (Disposition) के रूप में व्यवहृत करता है। किसी मनोवृत्ति के प्रति सदैव जागरूक रहना

30- ***दि कन्सेप्ट आव माण्इड*, अध्याय दो, खण्ड तीन** पृ. 27–35 .

31 - ***इथिकल डिसेग्रीमेन्ट*, आर सी.क्रास, फिलोसोफी, अंक** 25, (1950), पृ. 301–15

आवश्यक नहीं होता है। यहाँ तक कि सम्बन्धित नियमों एवं विधियों के प्रतिजागरूक (सचेत) न होते हुये भी किसी क्रिया को सफलतापूर्वक (सम्पन्न) किया जा सकता है। यह आवश्यक नहीं है कि कोई वाहन चालक वाहन (जैसे कार) चलाते समय सम्बन्धित नियमों और विधियों के बारे में सदैव सोचता रहे अथवा उनका स्मरण करता रहे। सच तो यह है कि सम्बन्धित नियमों तथा प्रविधियों के प्रति शाश्वत जागरूकता, उनका चिंतन और स्मरण करते रहना 'क्रियात्मक ज्ञान' के लिए अपेक्षित कर्म-कौशल में बाधक (हानिकारक) भी हो सकता है। दूसरे शब्दों में, यदि कोई व्यक्ति कर्म करते समय क्रिया पर ध्यान केन्द्रित करने के साथ-साथ उससे सम्बन्धित नियमों, पद्धतियों एवं प्रक्रियाओं का चिंतन और स्मरण करता रहे तो इससे कर्ता की कार्य-कुशलता प्रभावित एवं बाधित हो सकती है। शायद खेल के नियमों के विशेषज्ञ खेल के मैदान में उतरने पर अच्छा प्रदर्शन न कर सकें। इस प्रकार राइल का दावा है कि नियमों के प्रति सचेत न होते हुये भी लोग किसी के सकुशल सम्पादन में निपुण (कर्म-कौशल युक्त) हो सकते हैं। प्रायः लोग कोई कर्म करते समय उन नियमों एवं प्रक्रियाओं के प्रति सचेत नहीं रहते हैं जिनका वे सफलतापूर्वक पालन या अनुगमन करते हैं। जैसे, कोई गणितज्ञ गणित के किसी प्रश्न को हल करते समय गणितीय सूत्रों का प्रयोग यंत्रवत करते हुये भी सही उत्तर निगमित कर लेता है, किन्तु यह अवश्यक नहीं है कि वह उन सूत्रों या नियमों के प्रति हमेशा सचेत रहे, अथवा उन्हे स्मरण करता रहे। राइल के अनुसार इन क्रियाओं को अबौद्धिक नहीं कहा जा सकता है। इससे सिद्ध होता है कि यदि ज्ञान को मनोवृत्ति माना जाय तो उसके प्रति सचेत रहना अनिवार्य नहीं है।

किन्तु राइल के द्वारा किया गया ज्ञान का यह भेद दर्शन जगत् में विवादास्पद रहा है। अनेक आलोचकों ने उसके सिद्धान्त के प्रति असहमति व्यक्त की है। 'क्रियात्मक ज्ञान' (कैसे जानना) का प्रयोग अनेक संदर्भों और

विविध रूपों में किया जाता है। केवल किसी क्रिया के सफलतापूर्वक संपादन को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। अनेक सफल क्रियाएं सहज प्रवृत्तिमूलक विश्वासों के आधार पर भी की जा सकती है। यहां तक कि अनेक मानवेतर प्राणी (जैसे प्रशिक्षित हाथी, बन्दर इत्यादि) भी सहज प्रवृत्तियों के आधार पर कुछ क्रियायें सफलतापूर्वक प्रदर्शित कर सकते है। किन्तु उसे ज्ञान नहीं कहा जा सकता है। इसके द्वारा ज्ञान की एक महत्वपूर्ण विशेषता, 'संप्रेषणीयता' की व्याख्या नहीं की जा सकती है। अतः क्रियात्मक ज्ञान के संप्रेषणीय होने के लिए उसे प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान के रूप में रूपान्तरित करना आवश्यक होगा। अनेक संदर्भो में राइल के द्वारा प्रतिपादित क्रियात्मक ज्ञान 'व्यावहारिक विश्वासों' (Behavioural Beliefs) के समान प्रतीत होता है।[32]

(8) ज्ञान और विश्वास (Knowledge and Belief) - इस अध्याय में जिन सिद्धान्तों की चर्चा की गयी है, उनसे स्पष्ट है कि सभी दार्शनिक ज्ञान और विश्वास में अन्तर करते हैं । कुछ दार्शनिक ज्ञान और विश्वास को एक दूसरे से नितांत भिन्न प्रकार की मानसिक अवस्था मानते हैं । इसके विपरीत कुछ विचारक ज्ञान की परिभाषा एक प्रमाणित और सत्य विश्वास के रूप में देते हैं । जो दार्शनिक ज्ञान को एक विश्वास के रूप में परिभाषित करते हैं, उनके अनुसार भी केवल सत्य विश्वास को ज्ञान नहीं कहा जा सकता है । विश्वास के सम्बन्ध में हम सत्य अथवा 'असत्य' विशेषणों का प्रयोग तर्कसंगत रूप से कर सकते हैं। विश्वास का असत्य होना आत्मा-व्याघाती (Self +Cotradicory) नहीं है। इसके विपरीत ज्ञान को असत्य नहीं कहा जा सकता है। यदि कोई ज्ञान असत्य हो, तो उसे अपनी संज्ञा(ज्ञान) से ही वंचित होना पड़ेगा। किसी व्यक्ति के लिये

---

[32]–***आन नोइंग हाउ एन्ड नोइंग दैट*, एच.एस.. उपाध्याय, इण्डियन फिलोसोफिकल कार्टरली (न्यूसीरीज) अंक** 9, **सं.** 2, **पूना, जनवरी** 1982

अपने विश्वासों को त्यागना, सुधारना, संशोधित और परिवर्धित करना सम्भव है, किन्तु ज्ञान के सम्बन्ध में ऐसा नहीं कहा जा सकता है। हमारे विश्वासों में चढ़ाव-उतार अथवा अस्थिरता ज्ञान के स्वरूप' को प्रभावित नहीं कर सकती है। हमारे मतभेद और विवाद विश्वास के किसी निकाय (System of belief) के सम्बन्ध में हो सकते हैं, किन्तु ज्ञान के सम्बन्ध में नहीं। हमारे अनेक विश्वास व्यक्तिगत सनक और प्रकृति-वैशिट्य पर आधारित हो सकते हैं, किन्तु ज्ञान ऐसा नहीं हो सकता है।

ज्ञान और विश्वास के सम्बन्ध में एक प्रश्न यह उठाया जाता है कि **क्या विश्वास ज्ञान के लिये अनिवार्य है?** ज्ञानमीमांस को में इस प्रश्न को लेकर मतभेद है। कुछ दार्शनिक ज्ञान के लिए विश्वास को अनिवार्य शर्त के रूप में नहीं स्वीकार करते हैं। **ए.डी. वूजले (A.D.Woozley)** के अनुसार अनुमान से प्राप्त ज्ञान के प्रति विश्वास करना अथवा निश्चितता का अनुभव करना अनिवार्य नहीं है। इस संदर्भ में राइल (Ryle) के द्वारा क्रियात्मक ज्ञान (Knowing how) और प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान (Knowing that) के बीच में किया गया भेद भी उल्लेखनीय है। वूजले के अनुसार 'क्रियात्मक ज्ञान' (Knmowing how) के लिए निश्चित होना अनिवार्य नहीं है। वह इसे 'क्रियात्मक ज्ञान' (Knowing how) और 'प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान' (Knowing that) के बीच एक महत्वपूर्ण अंतर मानता है, अर्थात क्रियात्मक ज्ञान (Knowing how) के लिए विश्वास युक्त होना आवश्यक नहीं है।**33** किन्तु कुछ आलोचकों का कहना है कि 'प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान' (Knowing that) क्रियात्मक ज्ञान (Knowing how) की प्रागपेक्षा है। क्रियात्मक ज्ञान (Knowing how) को प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान (Propositional Knowledge) के रूप में परिणत किया जा सकता है। कुछ आलोचकों के अनुसार क्रियात्मक ज्ञान (Knowing how) को प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान

---

33 — ***नोइंग हाउ एण्ड नोइंग दैट*, वूजले** (**Proc Aristotelian Society New Series Vol** 53, **London** 1953, **pp.** 151-172)

(Knowing that) को प्रतिज्ञप्तिमूलक ज्ञान (Knowing that) से स्वतंत्र रूप में 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता है। इस दृष्टिकोण से विचार किया जाय तो वूजले के मत से सहमत होना कठिन होगा क्योंकि वूजले की मान्यता ज्ञान के इन दो भेदों पर निर्भर है।

वूजले के अतिरिक्त **कोलिन रेडफोर्ड,' ई.जे.लेमन और डेविड एन्नीस** का दावा है कि विना विश्वास के भी ज्ञान सम्भव है। ऐसी घटनायें घटित हो सकती है, जिन पर तत्काल विश्वास न किया जा सके। मान लीजिए कि किसी व्यक्ति से ब्रिटिश इतिहास से सम्वन्धित कुछ प्रश्न पूछे जाते हैं। ब्रिटेन के इतिहास की जानकारी से इंकार करने पर भी वह व्यक्ति कुछ प्रश्नों का सही उत्तर देने में सफल हो जाता है। इससे सिद्ध होता है कि उसे कुछ ज्ञान अवश्य है, किन्तु वह विश्वास नहीं करता है कि उसे ज्ञान है। इसी प्रकार लेमन (Lemman) का भी एक उदाहरण उल्लेखनीय है। किसी व्यक्ति से यह पूछने पर क्या तुम 'पाई' (पाई=22/7) का मान दशमलव के चार अंकों तक वता सकते हो,? उत्तर देता है, नहीं। किन्तु थोड़ी देर वाद वह स्मृति के आधार पर पाई का मान वता देता है। (3.1428)। इन उदाहरणों के द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि इन स्थितियों में ज्ञाता जानता है किन्तु उसे यह विश्वास नहीं है कि वह जानता है, अर्थात विना विश्वास के भी ज्ञान सम्भव है। **34**

यदि कोई व्यक्ति निष्ठापूर्वक कहता है कि 'प' है, तो एक निश्चित अर्थ में वह जो कुछ कहता है,'उसमें विश्वास भी करता है। ज्ञान के लिए दृढ़ धारणा ओर जो कहा जाय उसे स्वीकार करने की तत्परता आवश्यक होती है। जो व्यक्ति पूर्णनिष्ठा के साथ कहता है कि वह 'प' को नहीं जानता है, वास्तव में वह न तो 'प' को जानता है और न 'प' में

---

34 – ***नॉलेज*, लेहरर, पृ.** 49 ।

विश्वास करता है। जो दार्शनिक ज्ञान के लिये विश्वास को आवश्यक नहीं मानते हैं, उनकी ज्ञान सम्बन्धी अवधारणा ज्ञान की इस विशेष अवधारणा से भिन्न है। कीथ लेहरर ने इसे स्पष्ट करने का प्रयास किया है। उसने स्मृति को दो रूपों में भेद किया है, जो इस प्रकार हैं-

(1) वह स्मृति जिसके द्वारा हम सत्य जानकारी रखने के साथ-साथ उसके औचित्य को भी सिद्ध कर सकते है।

(2) वह स्मृति जिसके प्रति हम संशय करते हैं। इसे ज्ञान-रहित स्मृति कहा जा सकता है। ऐसी स्मृति भले ही सत्य हो जाय, परन्तु इसके विषय में हिचकिचाहट बनी रहती है।[35] स्मृति के इन दोनों रूपों में स्पष्ट अंतर है। किसी कथन का केवल सत्य हो जाना ज्ञान के लिए पर्याप्त नहीं है। जो दार्शनिक ज्ञान के लिए विश्वास को आवश्यक नहीं मानते हैं, वे किसी कथन के संयोगवश अथवा अस्पष्ट स्मृति के आधार पर सत्य हो जाने मात्र को ज्ञान समझ लेने की भूल करते है।

उपर्युक्त विवरणों से विदित होता है कि ज्ञान को मानसिक अवस्था, मनोवृत्ति (Disposition), घटनात्मक (Episodic), संपादनात्मक क्रिया (Performatory) Verb) इत्यादि चाहे जिस रूप में परिभाषित किया जाय प्रत्येक सिद्धान्त को मानने में कठिनाइयाँ हैं। विटगेन्स्टाइन के शब्दों में कहें तो ज्ञान के पृथक-पृथक उदाहरणों में सभी अवयवों का तादात्म्य आवश्यक नहीं है। ज्ञान के अधिकांश उदाहरणों में कुछ समानतायें होती हैं, अर्थात ज्ञान के विविध उदाहरणों में इस बात के अतिरिक्त कि वे सब ज्ञान के उदाहरण हैं, कोई अन्य बात (विशेषता) हू-ब-हू उभयनिष्ठ नहीं होती है।[36] गेटियर के आक्षेप का प्रत्युत्तर देने वाले अधिकांश दार्शनिकों ने ज्ञान को परिभाषित करने के लिए विश्वास, सत्य, प्रमाण अथवा, विश्वसनीयता (Reliability) तथा कुछ अन्य शर्तो का सहारा लिया है। ये समस्त घटक (विश्वास, सत्य, प्रमाण और कुछ अन्य शर्ते) संयुक्त रूप से ज्ञान को

---

35 – ***नॉलेज, लेहरर,*** पृ. 49 ।

36 – ***ब्लू एण्ड बाउन बुक्स,*** पृ. 17–18.

प्रतिपन्न करते हैं। वस्तुतः इनके द्वारा ज्ञान की कुछ शर्तों और परिस्थितियो की व्याख्या अवश्य होती है, किन्तु वे ज्ञान को निर्दोष रूप से परिभाषित करने में असमर्थ हैं। वास्तव में ज्ञान के विविध रूप, स्तर एवं स्रोत हो सकते हैं। ज्ञान के विभिन्न स्तर ज्ञान के विकास में सोपानवत् क्रमबद्ध होते हैं। वस्तुतः ज्ञान के प्रत्येक स्तर का मूल्यांकन पृथक-पृथक कसौटियों (प्रतिमानों) के द्वारा किया जा सकता है। प्रत्येक स्तर के ज्ञान के लिए एक ही प्रकार की कसौटी का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। जो प्रतिमान तथ्यात्मक विज्ञानों के लिए उपयोगी हैं, वे गणित जैसे संप्रत्ययात्मक विज्ञानों के लिये उपयोगी नहीं हो सकते हैं। इसी प्रकार अतीत का ज्ञान (ऐतिहासिक तथ्यों का ज्ञान) स्मृति एवं अन्य पुरातात्विक तथा साहित्यिक साक्ष्यों पर आधारित होता है। नैतिक एवं सौन्दर्यशास्त्रीय मूल्यों, (जैसे सत्यं, शिवं, एवं सुन्दरम्) का बोध या अनुभूति सामान्य बौद्धिक संज्ञान एवं ऐन्द्रिक अनुभूतियों से परे अन्तःप्रज्ञात्मक (Intutive) बोध का विषय हो सकता है। उल्लेखनीय है कि ज्ञान के विभिन्न स्तर एवं उनकी कसौटियां एक दूसरे से भिन्न होते हुये भी परस्पर सम्बन्धित हो सकते हैं। चूंकि ज्ञान का प्रत्येक स्तर और स्रोत अपने आप में अपूर्ण होता है, इसलिये उसे अन्य स्रोतों (कसौटियों) की आवश्यकता होती है। ज्ञान के विभिन्न स्तरों, स्रोतों एवं कसौटियों की अपूर्णता उनके बीच परस्पर पूरकता की अवधारणा को तर्कतः उत्पन्न करती है। वस्तुतः संशयवादियों के द्वारा प्रस्तुत समस्यायें मानव-ज्ञान के प्रति उनके सीमित दृष्टिकोण के कारण हैं। ज्ञान के विभिन्न स्तर भले ही अपूर्ण हों, किन्तु यह अनिवार्य नहीं है कि ज्ञान के एक सोपान (स्तर) से दूसरे सोपान की ओर संक्रमण विरोध, संशय एवं निषेध के द्वारा ही हो। ज्ञान के एक स्तर से दूसरे स्तर की ओर विकास, प्रगति एवं संक्रमण मानव की चिंतन प्रक्रिया का सहज परिणाम है।

मूल प्रतिज्ञप्ति

(Bsaic Propositions)

सन् 1930 के लगभग कतिपय प्रमुख पाश्चात्य ज्ञानमीमांसकों ने अशोध्य सत्य प्रतिज्ञप्ति को खोजने का प्रयत्न किया। कदाचित इस प्रकार की प्रतिज्ञप्ति के आधार पर वे अपने कुछ मान्यताओं का पूर्णरूपेण सत्यापन करना चाहते थे।[1] वस्तुतः कतिपय प्राचीन अनुभववादियों, मुख्यतः लॉक एवं ह्यूम, का भी उद्देश्य ज्ञान ज्ञापन के इस अशोध्य आधार को खोजना था। आनुभविक कथनों के आधार पर लॉक ने सरल प्रत्ययों को ज्ञान ज्ञापन का सरल अंग माना एवं ह्यूम ने छाप (Impression) को स्वीकारा। किन्तु लॉक तथा ह्यूम दोनों का विश्लेषण मुख्यतः मनोवैज्ञानिक स्तर पर रहा, अस्तु दोनों ने मनोवैज्ञानिक तत्वों या घटनाओं को ही मूलभूत रचक माना। परन्तु आधुनिक ज्ञानमीमांसक, उदाहरणार्थ रसेल एवं एयर, ज्ञान के मनोवैज्ञानिक एवं तार्किक अवयवों के भेद से परिचित थे अतः इन लोगों ने अपना ध्यान मुख्यतः ज्ञान के तार्किक रचक पर ही केन्द्रित किया। वे ज्ञान के मनोवैज्ञानिक रचकों की खोज से संतुष्ट नहीं हुये, एवं अपने विश्लेषण के आधार पर ज्ञान के तार्किक रचकों को खोजने का प्रयास किया। मूल प्रतिज्ञप्ति का समप्रत्यय इसी प्रयास की उपलब्धि है।

इन ज्ञानमीमांसकों के अनुसार मूल प्रतिपादित किसी एक अनुभूति के ही अन्तर्वस्तु का निर्देश करती है। मूल प्रतिज्ञप्ति को ये दूसरी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की सरलतम इकाई मानते हैं। इनके अनुसार इसकी सत्यता मूल्य का सत्यापन निश्चित रूप से हो सकता है तथा इसका सत्य अशोध्य होता है। मूल प्रतिज्ञप्ति के आधार पर अन्य आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों का सत्यापन

1—**एयर भी इसी विचार से सहमत हैं । देखें, इनका लेख *'बेसिक प्रोपोजिशन,'* जो इनकी पुस्तक *'फिलोसोफिकल एसेज'* (लंदन मैकमिलन कम्पनी लिमिटेड**, 959) **में संकलित है, पृ.** 105 ।

होता है। यहां मैं एयर के प्रतिपादन को नमूना (मॉडल) के रूप में स्वीकार कर मुख्यतः उन्हीं के सिद्धान्त का विवेचन करूंगा।

एयर के अनुसार मूल प्रतिज्ञप्तियां अन्य आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों के एक उपवर्ग' हैं;'.....................................वे एक बार की ही अनुभूति की अन्तर्वस्तु मात्र का निर्देश करती हैं,' तथा उनका निश्चित सत्यापन उस अनुभूति, जिसका वे निम्न अनन्य रूप से निर्देश करती हैं, कि उपस्थिति से होता है।'[2] साथ ही एयर का यह भी मत है कि मूल प्रतिज्ञप्तियां अशोध्य सत्य हैं, क्योंकि इनके सम्बन्ध में शाब्दिक भूल के अलावा किसी भी दूसरे प्रकार की भूल करना असंभव है।[3] इस प्रतिपादन के आधार पर हम कह सकते हैं कि मूल प्रतिज्ञप्ति के निम्नलिखित प्रधान लक्षण हैं ।

(क) यह पूर्णरूप से एक बार की अनुभूति को अन्तर्वस्तु का निर्देश करती है।

(ख) इसका पूर्णरूपेण सत्यापन किया जा सकता है।

एवं (ग) इसके सम्बन्ध में शाब्दिक भूल के अलावा और किसी भी प्रकार की भूल हो ही नहीं सकती है।

(क) इसका सम्बन्ध केवल एक बार के ही अनुभव के आधारभूत तत्व से है और यह किसी अनुभव के समय लोग दूसरे वाक्यों द्वारा या इसके ही समरूपी दूसरे वाक्यों द्वारा जितनी बात व्यक्त करते हैं, उससे बहुत कम व्यक्त करता है। वस्तुतः मूल प्रतिज्ञप्ति अनुभव का अभिलेख मात्र है एवं भिन्न-भिन्न मूल 'प्रतिज्ञप्ति भिन्न-भिन्न अनुभवों का यथार्थ अभिलेखन करती है। यदि मुझे चाक्षुष अनुभूति हो और मैं अपने चाक्षुष इन्द्रिय-प्रदत्त

2—**एयर, ए.जे. 'लैग्वेज ट्रुथ एण्ड लॉजिक' (न्यूयार्क : डोबर प्रकाशन)** पृ0 10 ।

3—**वही, पृ0** 10 ।

को मात्र निर्दिष्ट करने के लिये कहूं कि 'यह हरा है' और इससे मेरा तात्पर्य इस इन्द्रिय प्रदत्त का वर्णन करना या इसका सम्बन्ध दूसरी वस्तुओं से स्थापित करना नहीं हो, तो ऐसी अवस्था में यह वाक्य, एयर के अनुसार, मूल प्रतिज्ञप्ति होगा। इससे किसी दूसरे व्यक्ति को या स्वयं वक्ता को भी इस प्रकार के ज्ञान की उपलब्धि नहीं होती, क्योंकि यह व्यक्ति के वर्तमान अनुभव का अभिलेख मात्र है ।

"स्पष्टतः, मूल प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करने के लिए शब्दों के जिस आकार का व्यवहार होता है उससे यह समझा जा सकता है कि यह सुनने वाले और बोलने वाले दोनों के लिए ज्ञानवर्धक है, परन्तु इस वाक्य का अर्थ जब ऐसा समझा जाय तो यह मूल प्रतिज्ञप्ति नहीं रह जाता है।"[4]

(ख) इसकी सत्यता ध्रुव होती है और इसकी सत्यता पर किसी प्रकार का भी संदेह नहीं किया जा सकता है। इसी से इसका लक्षण

(ग) यह स्पष्ट कर देता है कि शाब्दिक अर्थ को छोड़ कर और किसी भी प्रकार की आपत्ति इसकी सत्यता पर नहीं की जा सकती है। कहने का तात्पर्य यह है कि किसी व्यक्ति इन्द्रिय-प्रदत्त को निर्देश करते समय प्रतीकों के व्यवहार में भूल हो सकती है, पर किसी व्यक्ति को इस प्रतिज्ञप्ति की सत्यता में संदेह नहीं हो सकता, क्योंकि यह इन्द्रिय प्रदत्त का उल्लेख मात्र है।

अस्तु, एयर के अनुसार "यह हरा है" वाक्य इन्द्रिय-प्रदत्त के विषय में कोई सूचना नहीं देता, मात्र उसका नामकरण (Designate) करता है। यहां सम्बद्ध रंग का वर्गीकरण भी नहीं किया गया है। यह संवेदना के परे सम्बन्ध की सत्ता का भी दावा नहीं करता। अतः इस प्रतिज्ञप्ति को व्यक्त करते समय व्यक्ति केवल अपने इन्द्रिय-प्रदत्त के लिये प्रतीकों के व्यवहार में गलती कर सकता है, और किसी प्रकार की भूल की उससे संभावना नहीं

4—**वही, पृ0** 10 ।

है। पर प्रतीकों के गलत व्यवहार के समय भी उसको अपने इन्द्रिय-प्रदत्त के स्वरूप के विषय में कोई शंका नहीं हो सकती है। उस व्यक्ति के प्रतीकों के गलत प्रयोग को ठीक किया जा सकता है या उसके प्रतीकों के प्रयोग को ठीक ढंग से समझा जा सकता है, अगर हम विभिन्न स्थितियों में उसके प्रतीकों के प्रयोग को ठीक ढंग से समझा जा सकता है, अगर हम विभिन्न स्थितियों में उसके प्रतीकों के प्रयोग पर ध्यान दें। अतः शाब्दिक अशुद्धि हमारे उद्देश्य के लिये बहुत महत्वपूर्ण नहीं है।

यदि एयर के इस प्रतिपादन को स्वीकार किया जाय, तो यह भी स्वीकार करना होगा कि मूल प्रतिज्ञप्ति आनुभविक तत्व (सेन्स कन्टेन्ट) को वर्णित न कर मात्र उसका नामकरण करता है। अतः मूल प्रतिज्ञप्ति को इस अर्थ में स्वीकार करने का अर्थ होगा कि यह इन्द्रिय-प्रदत्त को मात्र केवल लगाता है। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि मूल प्रतिज्ञप्ति इन्द्रिय-प्रदत्त का नाम है। किन्तु ऐसी अवस्था में यह कहना कि मूल प्रतिज्ञप्ति का पूर्णरूपेण सत्यापन किया जा सकता है, कोई अर्थ नहीं रखता । क्योंकि नाम को पूर्णरूपेण या अपूर्ण-रूपेण सत्यापित करने की बात करने का कोई अर्थ नहीं होता है। सत्यापन करने का अर्थ तदनुरूप तथ्य को निर्दिष्ट करना है। परन्तु नाम किसी वस्तु का वर्णन नहीं करता है, केवल उस पर एक लेबल लगाता है। अतः ऐसी दशा में यह कहना अर्थहीन होगा कि नाम की तुलना किसी वस्तु से की जा सकती है, या किसी तथ्य का स्थान निर्धारित किया जा सकता है जो उस नाम के अनुरूप है। यही नहीं, किसी वस्तु के नाम के सम्बन्ध में यह वैध रूप से पूछा भी नहीं जा सकता कि यह सत्य है या असत्य अतः मूल प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को अकाट्य कहना व्यर्थ है।

मूलप्रतिज्ञप्ति इन्द्रिय-प्रदत्त का अभिलेख मात्र है और यह किसी को भी किसी भी प्रकार की सूचना नहीं देती है। अतः यह किसी भी ज्ञानमीमांसा

के लिए महत्वहीन है, क्योंकि ज्ञानमीमांसा ज्ञान के साधन, ज्ञान की सत्यता की जांच की कसौटी और ज्ञान की सीमा और विस्तार का विवेचन करता है। इसके अलावा यह 'प्रतिज्ञप्ति' नाम के उपयुक्त भी नहीं है। प्रतिज्ञप्ति किसी ऐसी बात को व्यक्त करती है जो सत्य या असत्य हो सके। तात्पर्य यह है कि सत्यासत्य का विचार किये बिना प्रत्येक प्रतिज्ञप्ति किसी न किसी प्रकार की सूचना अवश्य देती है। पर मूल प्रतिज्ञप्ति किसी भी प्रकार की सूचना नहीं देती है।

मूल प्रतिज्ञप्ति की धारणा तार्किक प्रत्यक्षवादियों के अर्थ-सिद्धान्त पर आधारित है। इस सिद्धान्त के अनुसार किसी भी कथन को अर्थपूर्ण होने के लिये आवश्यक है कि उसका सत्यापन हो सके। सत्यापन करने का तात्पर्य है उस कथन के अनुरूप तथ्य का खोज करना। सम्भवतः यह अर्थ सिद्धान्त रसेल के भाषण-तार्किक परमाणुवाद-में प्रतिपादित भाषा के प्रतिरूप सिद्धान्त[5] से प्रोत्साहित हुआ है। तार्किक परमाणुवाद में रसेल का कहना है कि भाषा की संरचना के विश्लेषण के आधार पर हम लोगों को वस्तुस्थिति की संरचना का ज्ञान प्राप्त हो सकता है। उनके अनुसार भाषा के विश्लेषण करने से परमाण्वी प्रतिज्ञप्ति की उपलब्धि हो सकती है जो परमाण्वी तथ्य को प्रतिरूपित करती है। ए.एन.ह्वाइटहेड के साथ मिलकर लिखी अपनी पुस्तक "प्रिन्सिपिया मैथेमेटिका" में उन्होंने भाषा की संरचना का एक मॉडल भी प्रस्तुत किया है। किन्तु इस सिद्धान्त की इतनी कटु आलोचना विटगेन्सटाइन ने अपनी पुस्तक "फिलोसोफिकल इन्वेर्स्टीगेशन्स" में की है कि इसकी और परीक्षा यहां आवश्यक नहीं जान पड़ती है। विटगेन्सटाइन के भाषा के प्रतिरूप सिद्धान्त के विरोधी तर्कों को कुछ समुचित परिवर्तन के पश्चात् अर्थ-सत्यापन सिद्धान्त के विरोध में भी प्रयोग किया जा सकता है। विभिन्न परिस्थितियों मे एक कथन को विभिन्न कार्य सम्पादन करना पड़ता

5-***picture theory of Language.***

है। कथन हमेशा केवल वर्णनात्मक ही नहीं होता। अतः अनेक परिस्थितियों में कथनों के सत्यापन का प्रश्न ही नहीं उठाया जा सकता है। इस प्रकार यदि हम अर्थ के सत्यापन सिद्धान्त को अस्वीकार दें तो मूल प्रतिज्ञप्ति की धारणा निस्प्रयोजन हो जाती है।

मूल प्रतिज्ञप्ति ज्ञापन संबंधी सरलतम प्रतिज्ञप्ति होने से मौलिक माना जाता है। रसेल ने भी भाषा की संरचना के विश्लेषण द्वारा परमाण्वी प्रतिज्ञप्ति की धारणा की प्राप्ति की, पर अपनी तत्वमींमांसा की पूर्व धारणा के कारण वे तदनुरूप परमाण्वी तथ्य पर विश्वास करने लगे। अतः उन्हें उसके सारे निहितार्थों को-तत्वशास्त्रीय निहितार्थ समेत-स्वीकार करना पड़ा। परन्तु तार्किक प्रत्यक्षवादियों ने अपने तत्वशास्त्र विरोधी पूर्वाग्रह के कारण अपना ध्यान सत्यापन के ज्ञान शास्त्रीय समस्याओं पर केन्द्रित किया और मूल प्रतिज्ञप्ति की धारणा का निरूपण किया। इन लोगों ने इसको इन्द्रिय-प्रदत्त का अभिलेख मात्र माना। अतः इनके अनुसार यह ज्ञानशास्त्र की दृष्टि से सरलतम प्रतिज्ञप्ति है। यहाँ 'सरल' शब्द का व्यवहार असंयुक्त के अर्थ में किया गया है। किन्तु प्रश्न उठता है कि संयुक्त का तात्पर्य क्या है? हम प्रायः 'संयुक्त' शब्द(और इसलिए 'सरल' शब्द) का प्रयोग विभिन्न अर्थों में करते हैं। ज्ञान ज्ञापन की दृष्टि से भी हम नहीं कह सकते हैं कि एक वृक्ष का इन्द्रिय-प्रदत्त सरल है अथवा संयुक्त। क्योंकि हम अपने इन्द्रिय-प्रदत्त पर आंशिक या पूर्णरूपेण किसी भी तरह ध्यान दे सकते हैं अतः मूल प्रतिज्ञप्ति को ज्ञान-ज्ञापन की दृष्टि से भी सरल नहीं कहा जा सकता है।

यदि मूल प्रतिज्ञप्ति को आनुभविक तत्व (सेन्सकन्टेट) का ठीक-ठीक अभिलेख मान भी लिया जाय, फिर भी यह आपत्तियों से मुक्त नहीं हो पाता। अभिलेख शुद्ध या अशुद्ध दोनो ही हो सकता है। अभिलेख की शुद्धता की मात्रा इसके और जिस वस्तु का यह अभिलेख है उसकी

एकरूपता की मात्रा पर निर्भर करता है उनकी एकरूपता जितना ही अधिक होगी। अभिलेख की शुद्धता भी उतनी ही अधिक होगी । अतः यह कहा जा सकता है सबसे शुद्ध अभिलेख वही होगा जो उस वस्तु से, जिसका वह अभिलेख है, अभिन्न हो। परन्तु ऐसा कहना हास्यास्पद होगा, क्योंकि अभिलेख और वह वस्तु अभिन्न नहीं हो सकते।

यदि मूल प्रतिज्ञप्ति से प्रतिज्ञप्तियों की एक ऐसी श्रेणी समझा जाय जिनकी सत्यता पूर्णतः प्रमाणित की जा सकती है और जिनकी सत्यता के विषय में वैध ढंग से शंका भी न की जा सकती हो, तो कुछ दूसरी आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को भी इंगित किया जा सकता है जिनकी सत्यता को पूर्णतः प्रमाणित किया जा सकता है और जिनके विषय में कोई शंका भी नहीं उठाई जा सकती है; परन्तु उनको मूल प्रतिज्ञप्ति नहीं कहा जा सकता है। उदाहरण स्वरूप 'जवाहर लाल नेहरू की मृत्यु मई महीने में सत्ताइस तारीख को हुई' प्रतिज्ञप्ति की सत्यता को पूर्ण रूप से सिद्ध किया जा सकता है। इस वाक्य का सत्यापन पूर्णरूपेण उनके चिकित्सकों के साक्ष्य, दूसरे लोग जो उनके मृत्यु के समय वहाँ उपस्थित थे उनके साक्ष्य एवं भारत सरकार द्वारा प्रकाशित गजेट मे छपे उनकी मृत्यु के समाचार से किया जा सकता है। इस वाक्य का सत्यापन उस समय के समाचाार पत्रों में प्रकाशित मृत्यु का समाचार देखकर भी किया जा सकता है।

यदि मूल प्रतिज्ञप्ति को इन्द्रिय-प्रदत्त का अभिलेख मात्र स्वीकार भी कर लिया, तब भी इसके सत्यापन में कठिनाइयाँ उत्पन्न होगी, क्योंकि इन्द्रिय-प्रदत्त वैयक्तिक तथा अन्तरंग होता है। अतः जब इसकी सत्यता पर शंका होगी तो इसके सत्यापन का भार इसके वक्ता पर ही छोड़ना होगा। किन्तु ऐसी दशा में सत्यापन का प्रश्न ही नहीं उठेगा, क्योंकि वक्ता अपनी अनुभूति के विषय में निःशंक हो सकता है। मूल प्रतिज्ञप्ति को हमें इसलिए मानना पड़ता है क्योंकि इसका वक्ता इसे सत्य मानता है, परन्तु यह स्थिति बड़ी ही असंगत है।

प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियाँ

(A Priori Propositions)

सभी प्रकार के अनुभववाद के प्रति यह आरोप समान रूप मे लगाया गया है कि अनुभववादी सिद्धान्तों की पृष्ठभूमि में हम अनिवार्य सत्यों के ज्ञान की व्याख्या नहीं कर सकते। ह्यूम ने स्पष्टतः यह सिद्ध किया है कि तथ्यात्मक अनुभूतियों के आधार पर वैध वतालायी जाने वाली सामान्य प्रतिज्ञप्तियों में तार्किक सत्यता नही होती। किसी सामान्य प्रतिज्ञप्ति के घटक असंख्य उदाहरणों की व्यावहारिक जॉच के बाद भी भविष्य में उसे असत्य होने की संभावना वनी रहती है। कोई संख्या' 'स' कितनी भी वड़ी क्यों न हो, अगर कोई नियम 'स-1' उदाहरणों के लिए सत्य है तो इससे किसी प्रकार भी यह आश्वासन तर्कतः नहीं मिल पाता कि वह नियम 'स' वें उदाहरण में भी सत्य होगा। अतः वस्तुस्थिति को निर्देश करने वाली सामान्य प्रतिज्ञप्तियों में सार्वभौम और अनिवार्य सत्यता का अभाव होता है। इसे अधिक-से-अधिक एक संभव प्राक्कल्पना कहा जा सकता है। सामान्य प्रतिज्ञप्तियों के समान यह वात सभी प्रकार की तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्तियों के विषय में सत्य है। किसी भी संगत अनुभववादी को यह निष्कर्ष स्वीकारना आवश्यक है। किन्तु इसके आधार पर उसे संदेहवादी नहीं कहा जा सकता। क्योंकि किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता के लिए तर्कतः आश्वासन नहीं दे सकने के कारण हमारा उस प्रतिज्ञप्ति को स्वीकारना अयुक्तिसंगत नहीं हो जाता। इसके विपरीत आश्वासन के अभाव में संभाव्यता के स्थान पर निश्चितता अथवा सत्यता की मॉग ही अयुक्तिसंगत है। एयर ने इसका विशद् विवेचन आनुभाविक प्रतिज्ञप्तियों की व्याख्या के सिलसिले में किया है। उसने यह स्पष्ट स्वीकार किया है कि विज्ञान अथवा सामान्य ज्ञान के 'सत्यों' को प्राकल्पना मानना दोषपूर्ण नहीं है। इस प्रकार अनुभववादियों के प्रति यह कोई आरोप नहीं है।

अनुभववादियों को वास्तविक कठिनाई का सामना आकरिक तर्कशास्त्र और गणितिक सत्यों के संवंध में करना पड़ता है। क्योंकि वैज्ञानिक सामान्यीकरण को भ्रमशील स्वीकारने में हमें कोई आपत्ति नहीं होती, लेकिन गणितिक तथा तार्किक सत्यों की निश्चितता और अनिवार्यता स्पष्ट होती है। किन्तु अगर अनुभववाद का सिद्धान्त सही है तव तथ्यात्मक प्रतिज्ञप्तियों में एक भी निश्चित और अनिवार्य नहीं हो सकती। अतः अनुभववादियों के लिए यह वतलाना आवश्यक हो जाता है कि या तो इनमें अनिवार्य सत्यता नहीं होती, या इन प्रतिज्ञप्तियों में तथ्यात्मकता का अभाव होता है। प्रथम विकल्प की पुष्टि के लिए इनकी सार्वभौमता की व्याख्या करनी होगी और दूसरे विकल्प के लिये यह स्पष्ट करना आवश्यक है कि तथ्यात्मकता रहित प्रतिज्ञप्तियाँ किस प्रकार सत्य और लाभदायक हो सकती है।

अगर इन दोनों विकल्पों में से कोई भी स्थपित नहीं किया जा सके तव बुद्धिवाद को स्वीकारना आवश्यक हो जाता है। क्योंकि ऐसी स्थिति में यह मानना पड़ता है कि विना अनुभव के हमें विश्व सम्वन्धी कुछ सत्यों का ज्ञान हो सकता है। किन्तु ऐसा कुछ भी स्वीकार कर लेने से एयर का सत्यापनीयता-सिद्धान्त निष्प्रभ हो जाता है और उसके तत्वमीमांसा-विरोधी दर्शन की इतिश्री हो जाती है। अतः उनके लिये गणित और तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियों के विषय में दिये गये ऊपर के विकल्पों में किसी एक का सत्य सिद्ध करना आवश्यक हो जाता है।

मिल ने यह सिद्ध करने का प्रयास किया था कि तर्कशास्त्र और गणित के सत्यों में अनिवार्यता और निश्चितता नहीं होती। उसके अनुसार ये प्रतिज्ञप्यिाँ अत्यधिक उदाहरणों के आधार पर की गयी आगमनात्मक सामान्यीकरण है। चूँकि इन प्रतिज्ञप्तियों की स्थापना में उदाहरणों की संख्या वहुत ही अधिक होती है अतः इन्हें हम अनिवार्य और सार्वभौम सत्य मान लेते है। मिल के अनुसार इन सामान्य प्रतिज्ञप्तियों का भी सिद्धान्ततः खंडन

की संभावना है। क्योंकि आगमनात्मक सामान्यीकरण होने के कारण ये निश्चित नहीं हो सकती। प्राकृतिक विज्ञान की प्राक्कल्पना तथा इन प्रतिज्ञप्तियों में परिमाणात्मक अन्तर होता है प्राकारिक नहीं। गणित तथा तर्कशास्त्र के सत्यों को सार्वभौम सत्य स्वीकार करने के लिये अनुभव से हमें अच्छी युक्ति तो मिलती है किन्तु इसकी सार्वभौम सत्यता की गारंटी हमें नहीं है। गणित और तर्कशास्त्र के सत्य भी आनुभविक प्राक्कल्पनाएँ ही हैं जो अतीत में सदा सत्य रहे हैं, किन्तु अन्य अनुभविक प्राक्कल्नाओं की तरह सिद्धान्ततः ये भी भ्रमशील हैं।

एयर ने तर्कशास्त्र और गणित संबंधी अनुभववादियों की समस्या को दूर करने के लिए मिल द्वारा गया समाधान मान्य नहीं बतलाया है। उसके अनुसार, गणित तर्कशास्त्र के सत्यों को अनुभव से स्वतंत्र होने का अर्थ यह नहीं कि वे जन्मजात होते हैं, अर्थात् उन्हें हम जन्म से ही जानते हैं। यह स्पष्ट है कि गणित और तर्कशास्त्र को भी उसी प्रकार सीखना पड़ता है जिस प्रकार हम रसायनशास्त्र या भौतिकशास्त्र को सीखते हैं। और हम यह भी अस्वीकार नहीं कर सकते कि तार्किक और गणितिक सत्यों की स्थापना करने के लिए प्रारम्भ में आगमनात्मक विधि का सहारा नहीं लिया गया होगा। यह भी संभव है कि अनुमानों-वाक्यों को सूत्रवद्ध करने के पूर्व इनकी वैद्यता के लिए अनेक विशेष उदाहरणों का निरीक्षण किया गया होगा। तार्किक तथा गणितिक सत्यों को अनुभव से स्वतंत्र होने का अर्थ यह नहीं कि ऐतिहासिक दृष्टि से इन्हें कैसे प्रतिपादित किया जाता है या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से इन्हें हम कैसे सीखते हैं अपितु यहाँ अनुभव से स्वतंत्र होने का प्रश्न ज्ञानमीमांसीय है। मिल का यह कहना सही नहीं है कि गणितिक तथा तार्किक प्राक्कल्पनाएँ आनुभविक प्राक्कल्पनाओं के समान होती है जिनकी वैधता का निर्धारण समान प्रकार से किया जाता है इन सत्यों को अनुभव से स्वतंत्र कहने से हमारा तात्पर्य यह है इनकी वैधता आनुभविक

सत्यापनीयता पर आश्रित नहीं। हम इनकी स्थापना आगमनात्मक विधि से कर सकते हैं किन्तु एक बार इनकी जानकारी होने पर हम पाते हैं कि वे अनिवार्य सत्य होते हैं। इसके विपरीत आनुभविक सामान्यीकरण के आधार पर दी गई प्रतिज्ञप्तियों में अनिवार्य सत्यता नहीं होती।

इसकी पुष्टि के लिए हम एक उदाहरण लें। अगर किसी यूक्लीडीय त्रिभुज के तीनों कोणों का योग 180 डिग्री न हो तब यह नहीं कहा जाता कि गणितिक प्रतिज्ञप्ति-किसी यूक्लीडी त्रिभुज के तीनों कोणों कायोग 180 डिग्री होता है का इस उदाहरण से खंडन हो जाता है। ऐसी स्थिति में हम मानते हैं कि या तो हमारा माप ही गलत है या त्रिभुज यूक्लीडीय नहीं है। जिस किसी स्थिति में हमें गणितिक सत्यों का खंडन होता हुआ लगता है, हमारी यही विधि होती है। हम सदैव इसकी वैधता की रक्षा करते हैं और घटना की कोई अन्य व्याख्या स्वीकार लेते हैं। तार्किक सत्यों के विषय में भी यही बात लागू होती है।

हम जिस किसी भी उदाहरण को ले प्रत्येक स्थिति हम पायेंगे कि जिस परिस्थिति में भी तार्किक और गणितिक सिद्धान्त खंडित होते हुए प्रतीत होते हैं, उनकी व्याख्या इस प्रकार की जाती है कि वह सिद्धान्त पूर्णतः रक्षित रहता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि गणितिक सत्यों के खंडित होने की संभावना विषयक मिल की मान्यता सही नहीं है। अतः गणितिक और तार्किक सिद्धान्त का सार्वभौम सत्यता के खंडित होने पर आत्मविरोध होता है, भाषा-प्रयोग के नियमों की अवहेलना होती है। और कथन बेतुका तथा असंगत हो जाता है। दूसरे शब्दों में, गणितिक और तार्किक सत्य विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ या पुनरूक्तियाँ है। यह अत्यन्त विवादास्पद कथन है, जिसका स्पष्टीकरण आवश्यक हो जाता है।

विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों की अत्यन्त परिचित परिभाषा **कांट** ने दी है। उसके अनुसार **विश्लेषात्मक निर्णय** में या प्रतिज्ञप्तियों में उसके विधेय

उद्देश्य में निहित होते है। इसके विपरीत संश्लेषात्मक निर्णयों में यद्यपि विधेय उद्देश्य से संबंधित अवश्य रहते हैं। किन्तु विधेय उद्देश्य में निहित नहीं होते। कांट के अनुसार विश्लेषात्मक निर्णयों में विधेय के द्वारा उद्देश्य के संप्रत्ययों में वृद्धि नहीं होती। जैसे, "सभी वस्तुओं में विस्तार होता है", यह एक विश्लेषात्मक निर्णय है क्योंकि विधेय 'विस्तार' उद्देश्य के विश्लेषण से प्राप्त होता है। और विरोध के सिद्धान्त के आधार पर विधेय को उद्देश्य से अलग नहीं किया जा सकता। किन्तु "सभी वस्तुएँ भारी होती है", एक संश्लेषात्मक निर्णय है। कांट ने 7+5=12 को भी संश्लेषात्मक निर्णय कहा है क्योंकि बारह का सम्प्रत्यय किसी प्रकार भी विचार में मात्र सात और पाँच के ही योग से नहीं मिलता।

किन्तु कांट की इस व्याख्या से संश्लेषात्मक और विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों का अन्तर स्पष्ट नहीं होता। उसने इसके लिए दो प्रकार की कसौटियाँ दी हैं। 7+5=12 को संश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्ति स्वीकार करने के लिए कांट ने मनोवैज्ञानिक कसौटी का सहारा लिया है और "सभी वस्तुओं मे विस्तार होता है", को विश्लेषात्मक बतलाने के लिए तार्किक कसौटी की। किन्तु **मनोवैज्ञानिक कसौटी पर संश्लेषात्मक होने के बाद भी तार्किक कसौटी पर कोई प्रतिज्ञप्ति विश्लेषात्मक हो सकती है।** इस प्रकार बिना 'बारह' के विषय में सोचे ही 'सात और पाँच के योग' के विषय में सोचा जा सकता है- इससे यह अर्थ नहीं निकलता कि 7+5=12 को बिना आत्म-व्याघात के अस्वीकार किया जा सकता है । कांट के शेष सभी तर्कों से यह स्पष्ट होता है कि वह तार्किक प्रतिज्ञप्तियों की स्थापना करना चाहता था मनोवैज्ञानिक प्रतिज्ञप्तियों की नहीं। मनोवैज्ञानिक कसौटी का प्रयोग करने से कांट का मत असंगत हो जाता है।

संश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों में अन्तर स्पष्ट करते हुए **एयर** ने कहा है कि विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों की वैधता इसमें प्रयुक्त पदों की परिभाषा पर

आधारित होती है और संश्लेपात्मक प्रतिज्ञप्तियों की वैधता आनुभविक तथ्यों से निश्चित होती है। जैसे, "यह किताव लाल है"- एक संश्लेपात्मक प्रतिज्ञप्ति है और इसकी सत्यता-असत्यता जानने के लिए किताव का प्रत्यक्ष आवश्यक है। इसमें व्यवहृत पदों की परिभाषा के आधार पर प्रतिज्ञप्ति की सत्यता-असत्यता नहीं वतलायी जा सकती। किन्तु, इसके विपरीत "या तो यह किताव लाल है या लाल नहीं है"-एक विश्लेपात्मक प्रतिज्ञप्ति है और इसकी सत्यता-असत्यता के लिये निरीक्षण की आवश्यकता नहीं। अगर हमें 'या तो', 'या', 'नहीं' शब्दों का अर्थ ज्ञात हो तो विना किसी अनुभव की सहायता के "या तो 5 सत्य है या 5 सत्य नहीं है," के आकारवाली किसी भी प्रतिज्ञप्ति को वैध कहेंगे। इस प्रकार की सभी प्रतिज्ञप्तियाँ विश्लेषात्मक होती हैं।

"या तो यह किताव लाल है या लाल नहीं",- इस प्रतिज्ञप्ति के आधार पर किताव के रंग के विषय में कोई ज्ञान नहीं होता। या वस्तुतः किसी प्रकार भी कोई ज्ञान नहीं होता। यही वात सभी विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों के विषय में सत्य है। इन प्रतिज्ञप्तियों से किसी भी वस्तु स्थिति का किसी प्रकार का ज्ञान नहीं होता। दूसरे शब्दों में, ये तथ्यहीन होते हैं जिससे अनुभव द्वारा इनका खंडन नहीं किया जा सकता।

विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों को तथ्यहीन कहने से हमारा आशय यह नहीं होता है कि ये तत्वमीमांसीय कथनों की तरह निरर्थक होते हैं। क्योंकि जव हम कहते हैं, "कोई वस्तु एक ही समय किसी एक स्थान पर दो रंग की नहीं होती", तो हम किसी वस्तु के गुणों के वारे में कुछ नहीं कहते; किन्तु यह कथन निरर्थक भी नहीं है। क्योंकि हम एक विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्ति के माध्यम से भाषा प्रयोगों के कुछ निहितार्थों को स्पष्ट करना चाहते हैं अर्थात् विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों के आधार पर हम पदों के परम्परागत प्रयोग के नियमों को वतलाते हैं।

इस प्रकार एक अर्थ में विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों से हमें नये ज्ञान की प्राप्ति होती है। ये उन भाषा-संबंधी प्रयोगों की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट करते हैं जिनके विषय में हम अनभिज्ञ हो सकते हैं। किन्तु एक दूसरे अर्थ में हम ऐसा भी कह सकते हैं कि इन प्रतिज्ञप्तियों से हमारे ज्ञान की अभिवृद्धि नहीं होती है। क्योंकि इन प्रयोगों को हम पहले से जानते हो सकते हैं। अगर, हमें तथ्यगत ज्ञान की सूची देनी हो तो निश्चित ही हम उसमें विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों की चर्चा नहीं करेंगे, किन्तु हमारे ज्ञान के भंडार में विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ भी आ जाती हैं।

आकारिक तर्कशास्त्र का विश्लेषात्मक पक्ष परम्परागत तर्कशास्त्र में अस्पष्ट था। क्योंकि, 'प्रतिज्ञप्ति' के स्थान पर 'निर्णय' पद का प्रयोग कर और बेकार ही मनोवैज्ञानिक प्रश्नों की चर्चा करके परम्परागत तर्कशास्त्र ने ऐसा आभास दिया कि वह किसी प्रकार विचार प्रणाली से भी सम्बन्धित है। किन्तु यह वस्तुतः वर्गों के आकारिक संबंध के विषय में था। इसी से अनुमान के सभी सिद्धान्तों को बूलियन वर्ग-कलन में सम्मिलित बतलाया गया जो बाद में रसेल और ह्वाइटहेड के प्रतिज्ञप्ति-कलन में आ गया। इन दोनों दार्शनिकों ने **प्रिंसिपिया मैथेमेटिका** में यह स्पष्ट किया है कि आकारिक तर्कशास्त्र न तो मानव मस्तिष्क के गुणों से संबंधित है और न भौतिक वस्तुओं के गुणों से ही। इन्होंने तार्किक सत्यों तथा अनुमान के सिद्धान्तों के उस अन्तर को समाप्त कर दिया है जिसे हम अरस्तू के तर्कशास्त्र में पाते हैं। अरस्तू के बताये 'विचार के नियमों' को इन दार्शनिकों ने न केवल अपनी प्रणाली में सम्मिलित कर लिया है वरन् इन्हें अन्य विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों से अधिक महत्व भी नहीं दिया है। अन्य संभावित तार्किक प्रणालियों में रसेल और ह्वाइटहेड की प्रणाली भी संभवतः एक है, जिन सभी तार्किक प्रणलियों की संरचना पुनरूक्तियों से होती हैं।

रसेल ने यह पर्याप्त स्पष्टता से नहीं व्यक्त किया है कि प्रत्येक तार्किक प्रतिज्ञप्ति की वैधता किसी प्रणाली विशेष में सम्मिलित होने से नहीं होती। तार्किक प्रणाली की रचना विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों के अन्वेषण तथा अभिप्रमाणीकरण के लिये उपादेय है किन्तु सिद्धान्तत : इस हेतु भी यह अनिवार्य नहीं है। क्योंकि ऐसा प्रतीकवाद संभव है जिसमें विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्ति को उसके आकार के कारण ही विश्लेषात्मक समझा जाय ।

अगर किसी विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्ति की वैधता के लिए किसी प्रणाली को आवश्यकता न हो, तो रसेल की तरह गाणितिक प्रतिज्ञप्तियों को आकारिक तर्कशास्त्र की प्रतिज्ञप्तियों में परिवर्तित करने की आवश्यकता नहीं है । किसी विलेषात्मक प्रतिज्ञप्ति की कसौटी यही है कि इसकी वैधता इसमें प्रयुक्त पदों की परिभाषा से निःसृत होनी चाहिए, और शुद्ध गणित की प्रतिज्ञप्तियां इस शर्त का पालन करती हैं, अतः वे विश्लेषात्मक होती है ।

गाणितिक प्रतिज्ञप्तियों में जयामिति की प्रतिज्ञप्तियां अत्यन्त सहजता के साथ संश्लेषात्मक स्वीकार कर लेने की संभावना अधिक है । क्योंकि, कांट के समान यह सोचना हमारे लिए स्वाभाविक है कि ज्यामिति में भौतिक जगत् के दिक् - संबंधी गुणों के अध्ययन के कारण इसकी प्रतिज्ञत्पियां तथ्यात्मक होती है । अगर हम इसे स्वीकार कर लें और यह भी मान लें कि ज्यामिति की प्रतिज्ञप्तियां अनिवार्य और निश्चित होती हैं तब हमें इन संश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों के लिए कांट की दी हुई प्रागनुभविक ज्ञान की व्याख्या ही संभव जान पड़ेगी । किन्तु कांट ने शुद्ध ज्यामिति को भौतिकदिक् पर आधारित मानने का भ्रम अपने समय में प्रचलित एकमात्र यूक्लीडाय ज्यामिति के कारण किया था । यूक्लीडाय ज्यामिति से भिन्न ज्यामितियों की स्थापना के बाद यह बतलाया गया है कि ज्यामिति की स्वयं सिद्धियां मात्र परिभाषाएं हैं और इनके साध्य इन परिभाषाओं की तार्किक अनुवर्तियां हैं । किसी ज्यामिति को वास्तविक भौतिक जगत् के लिए व्यवहृत

किया जा सकता है या नहीं, यह एक आनुभविक प्रश्न है और ज्यामिति के क्षेत्र में नहीं आता । अतः किसी ज्यामिति की सत्यता-असत्यता के विषय में कहना निरर्थक है । वस्तुतः यह पूर्णरूपेण तार्किक प्रणाली है और इसकी प्रतिज्ञप्तियां पूर्णरूपेण विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियां हैं ।

विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों की अनिवार्यता तथा निश्चितता की व्याख्या हमलोग पहले ही कर चुके हैं । चूंकि ये प्रतिज्ञप्तियां अनुभव-जगत् के विषय में नहीं बतलातीं, अतः अनुभव से इनका खंडन नहीं कर सकते । ये प्रतिज्ञप्तियां हमारे उस निश्चिय को व्यक्त करती है कि हम एक विशेष प्रकार से शब्दों का प्रयोग करें । हम इनका तबतक निषेध नहीं कर सकते, जबतक हम इनके प्रयोग की परम्परा का उल्लंघन कर आत्म-व्याघाती कथन न दें । यही इनकी अनिवार्यता का मुख्य आधार है । किसी विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्ति की वैधता जिस प्रकार बाह्य-जगत् की प्रकृति से स्वतंत्र होती है उसी प्रकार यह हमारे मस्तिष्क की प्रकृति से भी स्वतंत्र होती है । ऐसा संभव था कि हम वर्तमान भाषा-परम्परा का व्यवहार नहीं करके किसी भिन्न-भाषा-परम्परा का व्यवहार करते । किन्तु किसी भी भाषा-परम्परा में इन्हें हम जिन पुनरुक्तियों के माध्यम से व्यक्त करते, वे सदा अनिवार्य रहतीं ।

इस प्रकार तर्कशास्त्र तथा गणित के सत्यों को अनिवार्य और निश्चित होने में कुछ भी विचित्र नहीं है । किसी प्रकार का निरीक्षण '7+5=12' का खंडन इसलिये नहीं कर सकता क्योंकि सांकेतिक अभिव्यक्ति '7+5' दूसरी सांकेतिक अभिव्यक्ति '12' का पर्यायवाची है । यही व्याख्या सभी प्रागनुभविक सत्यों के लिए लागू होती है ।

प्रथम दृष्टि में यह विचित्र-सा प्रतीत होता है कि तार्किक तथा गाणितिक पुनरुक्तियों द्वारा कभी-कभी आविष्कार की बात की जाती है । किन्तु यह विचित्रता वस्तुतः हमारी बुद्धि की सीमा का द्योतक है ।

अनन्तरूप मे शक्तिशाली बुद्धि वाले प्राणों के लिये तर्कशास्त्र और गणित महत्वहीन हो जाता है । क्योंकि एक दृष्टि में ही उसे अपनी परिभाषाओं के सभी निहितार्थों की जानकारी हो जाती है और ऐसा कुछ भी नहीं रह जाता जिसका ज्ञान उसे तार्किक अनुमान के माध्यम से हो । किन्तु हमारी बुद्धि की क्षमता इतनी अधिक नहीं है । एक ही दृष्टि में हमें अपनी परिभाषाओं की अनुवर्ती अत्यन्त साधारण प्रतिज्ञप्तियों का ही ज्ञान हो पाता है । '91X79 =7189' एक साधारण प्रतिज्ञप्ति है किन्तु इस पुनरूक्ति की भी जानकारी के लिए हमें सद्यः नहीं हो पाती । '91 X79' का पर्याय '7189' ही है, इसकी जानकारी के लिए हमें वस्तुतः गुणा करना पड़ता है, जो वास्तव में पुनरूक्तियों में परिवर्तन की प्रक्रिया मात्र है । अर्थात् इससे हम केवल अभिव्यक्ति का आकार परिवर्तन करतें हैं अर्थ परिवर्तन नहीं । चूंकि कलात्मक पद्धति प्रायः यांत्रिक ही होती है । अतः इसमें गलती की संभावना रहती और फलस्वरूप आत्मविरोध हो सकता है । इस प्रकार स्पष्टतः तार्किक अनुमानो में असत्यता की संभावना तव अधिक हो जाती है जवकि कलात्मक प्रक्रिया दुरुह और वोझिल हो । अतः अत्यन्त जटिल विश्लेषात्मक प्रतिज्ञप्तियों द्वारा व्यक्त पुनरूक्तियां रोचक एवं आश्चर्यजनक हो सकती हैं ।

तार्किक अनुमानों में दोष को कम करने के लिए प्रतीकात्मक विधि के विषय में वतलाया गया है जिससे अत्यन्त जटिल पुनरूक्तियों को सरलरूप में प्रस्तुत किया जा सकता है । इस प्रकार तर्कशास्त्र और गणित की सभी प्रतिज्ञप्तियों को विश्लेपात्मक सिद्ध करके हम इसकी व्याख्या प्रागनुभविक सत्यता के आधार पर कर सकते हैं । यहां अनुवादियों की यह मान्यता स्थापित हो जाती है कि वस्तु जगत् का प्रागनुभविक ज्ञान नहीं होता । अनुभव से स्वतंत्र होने पर भी हम जिन प्रतिज्ञप्तियों को वैध मानते हैं उनकी वैधता का कारण उनमें तथ्यात्मकता आ अभाव होता है । किसी

प्रतिज्ञप्ति की प्रागनुभविक सत्यता का अर्थ यह होता है कि वह पुनरुक्ति है। यद्यपि ये पुनरुक्तियां हमें ज्ञान के आनुभविक अन्वेषण में मार्गदर्शन कर सकती हैं, अपने आप में ये तथ्यरहित होती हैं।

एयर तथा प्रागनुभविक सत्य

एयर प्रागनुभविक तथा आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों के बीच स्पष्ट तार्किक भेद मानते हुए दोनों को प्रमाणिकता की भिन्न-भिन्न व्याख्या प्रस्तुत करते हैं ।

बुद्धिवादियों ने प्रायः यह दावा किया है कि बौद्धिक चिंतन ही ज्ञान का एक मात्र साधन है । और उनके इस दावे का आधार यही रहा कि जगत-संबंधी जिन किन्हीं अनिवार्य सत्यों का हमें ज्ञान होता है वह बुद्धि के द्वारा ही, अनुभव के द्वारा नहीं । उनके अनुसार कुछ ऐसे सामान्य धर्म हैं जिनका आरोप हम सभी वस्तुओं में कर सकते हैं, यद्यपि कि सभी वस्तुओं के संबंध में हमारा प्रेक्षण करना अकल्पनीय है । अनुभववादी होने के नाते एयर को यह रहस्यात्मक अव्याख्येय तथ्य अमान्य है कि हमारा बौद्धिक चिंतन प्रमाणिक तौर पर उन वस्तुओं का स्वरूप दर्शन में सक्षम है जिनका हमने कभी प्रेक्षण नहीं किया । कारण, यह मानना कि जगत् संबंधी कुछ ऐसे तथ्य हैं कि जिनका ज्ञान अनुभव-निरपेक्ष है, उनके अपने मूल सिद्धान्त के प्रतिकूल होगा (जिसके अनुसार उक्तियों को तथ्यात्मक दृष्टि से अर्थपूर्ण तभी ठहराया जाता यदि वे आनुभविक प्रमाणीकरणयोग्य हों) ।

अनुभववादी सिद्धान्त के विरूद्ध सामान्यतया यह आक्षेप किया जाता है कि इसके आधार पर हमारे अनिवार्य सत्य-संबंधी ज्ञान की व्याख्या असम्भव हो जाती है । कारण, कोई भी सामान्य प्रतिज्ञप्ति जिसकी प्रमाणिकता वास्तविक अनुभव पर आश्रित है, तार्किक दृष्टि से निश्चित कभी नहीं मानी जा सकती । चाहे कितनी भी बार वह व्यवहारतः प्रमाणित क्यों न हुई हो, सिद्धान्तः यह संभावना सर्वदा बनी रहती है कि भविष्य की किसी घटना द्वारा वह असत्यापित हो जाय ।

एयर उपर्युक्त तथ्य को स्वीकार करते हैं, पर वह इसे अनुभववादी सिद्धांत के विरूद्ध कोई आक्षेप नहीं मानते । उनकी दृष्टि में इस मत में

कोई वैचित्रय नहीं है कि समस्त वैज्ञानिक तथा सामान्य बुद्धि परक 'सत्य' संभाव्य प्राक्कल्पनाएं हैं । अपितु, वैचित्रय वह इस बात में पाते हैं कि संभाव्य के क्षेत्र में लोग निश्चितता की गारंटी ढूढ़ें । अनुभववादियों के सामने जो वास्तविक समस्या आती है वह है तर्कशास्त्र तथा गणित संबंधी सत्यों को लेकर । क्योंकि जबकि वैज्ञानिक सामान्यीकरणों को झट ही असत्य, संभाव्य स्वीकार लिया जायगा । तार्किक गणितीय सत्य सबों को अनिवार्य तथा निश्चित प्रतीत होते है । पर यदि अनुभववादी कथन सही है, तथ्य-संबंधी कोई भी प्रतिज्ञप्ति अनिवार्य नहीं हो सकती तो ऐसी स्थिति में तार्किक-गणितीय सत्यों के संबंध में अनुभववादी इन्हीं वैकल्पिक व्याख्याओं में से एक अपना सकते है - या तो यह कि वे अनिवार्य सत्य नहीं है, या यह कि वे जगत् - संबंधी, तथ्यात्मक सत्य नहीं हैं । पहले विकल्प का पोषण जॉन स्टुअर्ट मिल के सिद्धान्त में पाया जाता है । उनके मतानुसार वे सभी प्रतिज्ञप्तियॉ आगमनात्मक सामान्यीकरण, हैं केवल उनके समर्थक उदाहरणों की संख्या इतनी अधिक है कि किसी प्रतिकूल उदाहरण का प्रकट होना हमें अविश्वसनीय लगता है, और हम उन सामान्यीकरणों को अनिवार्य तथा सार्वभौम सत्य समझने लगते हैं । पर सिद्धान्तः उनके (सामान्यर्यीकरण होने के नाते) खण्डन होने की संभावना रहती ही है । वे उत्यधिक संभाव्यभले ही हों, पर निश्चित सतय नहीं माने जा सकते, उनके तथा प्रकृतिक विज्ञान की प्राक्कल्पनाओं के बीच मात्रा-भेद है, प्रकार-भेद नहीं।

तार्किक तथा गणितीय सत्य संबंधी उपयुर्क्त व्याख्या एयर को अमान्य है। कारण, वह इस वात को अस्वीकर करते हैं कि उनका तथा आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों का एक ही तार्किक स्वरूप है, तथा दोनों की प्रमाणिकता एक ही ढंग से निर्धारित होती है । वह मानते हैं कि वे सत्य अनुभव-निरपेक्ष हैं, अर्थात उनकी प्रमाणिकता आनुभविक प्रेक्षण पर आश्रित नहीं है । आगमनात्मक पद्धति से हम उन्हें भले ही प्राप्त करें, पर ज्योंही हम उन्हें

जान लेते हैं हम यह समझ जाते हैं कि वे हर कल्पनीय उदाहरण के संबंध में सत्य हैं । यदि किसी स्थिति में हमें ऐसा लगे कि कोई तार्किक या गणितीय सिद्धांत खंडित हो रहा है । तो उस स्थिति की कोई अन्य व्याख्या ढूंढ़ते हैं, न कि उस सिद्धान्त को च्युत मानते हैं । उदाहरणस्वरूप, यदि हम डाकघर से दो दर्जन लिफाफें खरीदें, और उन्हें गिनने पर पाएँ कि वे तेईस होते है, तो हम यही सोचेगें कि या तो हमें दो दर्जन लिफाफे मिले ही नहीं थे, या हमारे गिनने के समय उनमें से एक लिफाफा निकाल लिया गया था, या उनमें से दो सटकर एक साथ हो गए थे, या हमने गिनने में गलती की । एक बात जो हम किसी भी स्थिति में नहीं सोचेंगे कि वह यह कि '12 X 2=24' यहां पर असत्यापित हो गया । तो तार्किक-गणितिक सिद्धान्त सार्वभौम रूप से सत्य इसलिए है कि उन्हें किसी भी स्थिति में अन्यथा होने देना हमें स्वीकार्य नहीं होता । और इसका कारण यह है कि उनका त्याग करने पर हम भाषात्मक प्रयोग संबंधी नियमों का उल्लंघन कर अपनी उक्तियों को स्वतोव्याघाती बना डालते हैं । दूसरे शब्दों में तार्किक-गणितिक प्रतिज्ञप्तियों के अनिवार्य रूप से सत्य होने का रहस्य है उनका विश्लेषणात्मक या पुनरूक्तयात्मक होना ।

विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक कथनों के बीच भेद स्पष्ट करते हुए एयर तद्विषयक कांटीय विवरण में संशोधन की आवश्यकता समझते हैं । कांट के विरूद्ध मुख्य आरोप यह है कि उन्होने इस संबंध में एक सीधा तार्किक मापदण्ड ही (जो व्याघात-सिद्धान्त पर आधारित है) न देकर इसके साथ एक अन्य, मनोवैज्ञानिक मापदण्ड जोड़ दिया, जबकि ये दोनों मापदण्ड कतई तुल्य (equivalent) नहीं है । इस प्रकार मनोवैज्ञानिक मापदण्ड का प्रयोग करते हुए कांट ने बताया कि '7+5 =12' एक संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति है, क्योंकि कि "7+5=12" एक संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति है, क्योकि उद्देश्य "7+5" से संबद्ध व्यक्तिनिष्ट भाव (Subjective

intension) विधेय "12" संवर्धी व्यक्तिनिष्ठ भाव नहीं प्रदान करना। पर यदि यह मान भी लिया जाय कि "7+5" संवंधी चिंतन में हम "12" का विचार अनिवार्य रूप से नहीं पाएँ, इससे यह परिणाम कतई प्राप्त नहीं होता कि उक्त प्रतिज्ञप्ति "7+5=12" को हम अस्वीकार करें तो उसमें आत्म-व्याधात नहीं होगा। जैसा कि एयर स्पष्ट करते हैं, यह अच्छी तरह संभव है कि प्रतीकें समानार्थक हों यद्यपि उनसे संवद्ध व्यक्तिनिष्ठ भाव प्रत्येक व्यक्ति के लिए एक ही न हो। इस प्रकार वही प्रतिज्ञप्ति, "7+5=12", जो एक (मनोवैज्ञानिक) मापदण्ड के आधार पर संश्लेषणात्मक वताया जाता है, दूसरे(तार्किक) मापदण्ड के अनुसार विश्लेषणात्मक ठहरता है विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के भेद को विल्कुल तार्किक वताते हुए एयर उसे यों प्रस्तुत करते हैं, "किसी प्रतिज्ञप्ति को विश्लेषणात्मक तव कहा जायेगा जवकि उसकी प्रामाणिकता उसमें प्रयुक्त प्रतीकों की परिभषाओं पर ही पूर्णतया निर्भर करती है, तथा संश्लेषणात्मक तव जवकि उसकी प्रमाणिकता अनुभवात्मक तथ्यो द्वारा निर्धारित होती है।"[1] इस प्रकार "कुछ भारतीय देश द्रोही है" संश्लेपणात्मक प्रतिज्ञप्ति है। क्योकि इसके निर्मायक प्रतीकों की परिभाषाओं के ऊपर विचार करने से ही हम इसे सत्य या असत्य नही ठहरा सकते इसके लिए भारतीयों के कार्यकलाप का वास्तविक प्रेक्षण अपेक्षित है। दूसरी ओर इस प्रतिज्ञप्ति को लें," "या तो कुछ भारतीय देशद्रोही है या कोई भी भारतीय देशद्रोही नही है" यह विश्लेषणात्मक है। कारण यहाँ भारतीयों के कार्यकलाप का प्रेक्षण विल्कुल आवश्यक नही है, यदि कोई व्यक्ति 'या तो", "या" तथा "नही" शव्दो का व्यापार जानता है तो फिर वह समझ सकता है कि "या तो प्र सत्य है या प्र सत्य नही है"– इस आकार की किसी भी प्रतिज्ञप्ति की प्रामाणिकता अनुभव-स्वतंत्र है। यहाँ एयर इस वात पर जोर देते है कि

---

1. ***Language, Truth and Logic*, Revised, Dover (1946), P. 78 .**

उक्त प्रतिज्ञप्ति "या तो कुछ भारतीय देशद्रोही है" या कोई जानकारी नहीं देती, भारतीयों के कार्यकलाप के संबंध में यह फिर अन्य किसी वस्तु-स्थिति के विषय में ही। यही बात सभी विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों के साथ लागू होती है, वे सबके सब पूर्णतया तथ्य शून्य होती है। और यही कारण है कि किसी भी अनुभव के द्वारा उनका खंडन नहीं हो सकता।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियाँ तथ्य-संबंधी नहीं है, साथ ही वे अर्थहीन भी नहीं है, तो फिर उनका क्या विषय है? एयर का उत्तर है, वे यह दर्शाती है कि हम खास प्रतीकों का प्रयोग किस ढंग से करते हैं। उदाहरणार्थ इसे लें, "किसी वस्तु का एक ही भाग एक ही समय में विभिन्न रंगो का नहीं हो सकता"। इसके द्वारा हम एक विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति व्यक्त करते है जो हमारा यह निर्णय बताती है कि किसी रंगीन क्षेत्र को, जो समीपवर्ती रंगीन क्षेत्र से गुणात्मक रूप से भिन्न है, हम उस वस्तु का एक भिन्न भाग कहते है। दूसरे शब्दो में, यह प्रतिज्ञप्ति एक विशेष भाषात्मक प्रयोग के आपादानों की ओर ध्यान आकृष्ट करती है।[2] इसी प्रकार यदि हम यह कहें, "यदि सभी मैथिल भारतीय हैं, तथा सभी भारतीय एशियाई हैं,' तो सभी मैथिल एशियाई" है तो यहां भी हम किसी वस्तु-स्थिति का विवरण नहीं देते, वल्कि यह दर्शाते हैं कि पूर्वगामी कथन ("यदि सभी मैथिल भारतीय हैं तथा सभी भारतीय एशियाई") में ही अग्रिम कथन ("सभी मैथिल एशियाई है") समाविष्ट है। इसके द्वारा हम केवल उस भाषात्मक परम्परा का संकेत करते हैं जिसके अनुसार 'यदि' तथा 'सभी' का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार इन प्रतिज्ञप्तियों से कोई नई जानकारी नहीं प्राप्त होती; ये हमें वही बताती हैं जो हमारे लिए पूर्वज्ञात कहा जायगा। इस संबंध में एयर की शब्दावली में 'प्रागनुभविक', 'विश्लेषात्मक', 'पुनरुक्तयात्मक', 'शाब्दिक',

---

2. ***Language, Truth and Logic*, Revised, Dover (1946), P. 76.**

'भाषात्मक', 'परिभाषात्मक सत्य' आदि पर्यायवाची पद से लगते हैं । और सभी अनिवार्य सत्यों (तार्किक-गणितिक प्रतिज्ञप्तियों) का स्वरूप-निरूपण, उनके अनुसार, इन विशेषणों द्वारा किया जा सकता है ।

यों देखने पर ऐसा आभास हो सकता है कि तार्किक गणितिक प्रतिज्ञप्तियां तथ्यों के बीच आवश्यक संबंध व्यक्त करती हैं, पर यथार्थतः वे सब के सब विश्लेषणात्मक हैं । एयर बताते हैं कि यदि आकारिक तर्क संबंधी सत्यों का विश्लेषणात्मक स्वरूप पहले स्पष्ट रूप में प्रकट नहीं था तो इस कारण परम्परागत तर्कशास्त्र पर्याप्त रूप से आकरिक नहीं था । प्रतिज्ञप्तियों के स्थान पर निर्णयों की बात कर तथा अनावश्यक मनोवैज्ञानिक प्रश्नों को लाकर परम्परागत तर्कशास्त्र ऐसा भ्रम उत्पन्न करता था मानो उसका हमारे चिंतन के कार्यकलाप से घनिष्ठ संबंध हो। पर यह धारणा कि तर्कशास्त्र 'चितंन संबंधी नियमों' का विवरण प्रस्तुत करता है, सर्वथा भ्रांतिपूर्ण है; अनेक संभाव्य तार्किक पद्धतियों में से प्रत्येक पुनरुक्तियों द्वारा निर्मित है । गाणितिक प्रतिज्ञप्तियों में जिन्हें संश्लेणात्मक प्रतीत होने की सर्वाधिक संभावना है वे हैं ज्यामिति की प्रतिज्ञप्तियां । पर यहां भी धारणा कि ज्यामिति भौतिक देश संबंधी गुणों का अध्ययन करता है तथा उसकी प्रतिज्ञप्तियां तथ्यात्क हैं, भ्रांतिपूर्ण है । यूक्लिड-इतर ज्यामितियों के आविष्कार से यह बात सुस्पष्ट हो गई है कि किसी ज्यामिति की स्वयंसिद्धियां, परिभाषाएं मात्र हैं, तथा उसके साध्य इन परिभाषाओं के तार्किक परिणाम मात्र । कोई ज्यामिति वास्तविक भौतिक जगत् के साथ लागू होगा अथवा नहीं, यह एक आनुभविक प्रश्न है जो ज्यामिति के निजी क्षेत्र से बाहर पड़ता है । ज्यामिति स्वयं इतना ही कहता है कि यदि कुछ भी इसकी परिभाषाओं के अन्तर्गत आए, तो उसके संबंध में इसके साध्य सत्य होंगे । इस प्रकार यह विशुद्ध रूप से तार्किक पद्धति है, तथा इसकी प्रतिज्ञप्तियां विश्लेषणात्मक हैं ।

विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों की प्रागनुभविक प्रामाणिकता का रहस्य एयर मानते हैं उनका पुनरुक्तयात्मक स्वरूप । वे तथ्य-संबंधी कोई जानकारी ही नहीं देती तथा यही (तथ्यशून्यता) कारण है कि किसी प्रकार का अनुभव उनका खण्डन नहीं कर सकता । हमारा यह ज्ञान कि 7+5=12 किसी भी प्रेक्षण द्वारा असत्यापित नहीं किया जा सकता मात्र इस बात पर आधारित है कि दोनों प्रतीकात्मक अभिव्यक्तियां, "7+5" तथा "12" समानार्थक हैं, ठीक उसी प्रकार जैसे हमारा यह ज्ञान कि प्रत्येक शिक्षक शिक्षादाता है इस बात पर आधारित है कि ये दोनों प्रतीकें, "शिक्षक" तथा "शिक्षादाता" समानार्थक हैं । और यही व्याख्या, एयर के अनुसार, प्रत्येक प्रागनुभविक सत्य के विषय में सही है ।[3]

यहां आलोचक यह शंका कर सकतें हैं, सभी प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को विश्लेषणात्मक कैसे बताया जा सकता है यथा, इस प्रकार की प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्ति लें "यर को अनुलग्न करता है" उनके अनुसार यदि यह संभव है कि य का अर्थ हम र संबंधी विचार मन में लाए बिना समझ लें, तो फिर यह संभव है कि कोई प्रतिज्ञप्ति दूसरी प्रतिज्ञप्ति को अनुलग्न करे पर उसे अपने अर्थांश के रूप में अपने अन्तर्गत समाविष्ट न करे ।[3a] इसके उत्तर में एयर बताते हैं कि यह प्रश्न कि कोई प्रतिज्ञप्ति किसी दूसरी प्रतिज्ञप्ति का अर्थांश है या नहीं, द्वयर्थक है । एयर स्वयं तो ऐसा अर्थ संबंधी सिद्धांत अपनाते हैं जिसके अन्तर्गत यह मानना होता है कि जब कोई प्रतिज्ञप्ति दूसरी को अनुलग्न करती है तो दूसरी प्रतिज्ञप्ति का अर्थ पहली में समाविष्ट रहता है । या यों कहें कि यहां किसी प्रतिज्ञप्ति का अर्थ-निर्धारण यह देखकर करते हैं कि वह क्या अनुलग्न करती है । और इस पद्धति को अपनाने पर यह कथन कि यदि य र को अनुलग्न करता है तो र का अर्थ य के अर्थ में समाविष्ट है, स्वयं एक

---

3. ***Language, Truth and Logic*, Revised, Dover (1946), P. 85**
3a. A. C. Ewing, *"The Linguistic theory of a priori Propositions"*, Aris. Soc. Proceedings 1940.

विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्ति हो जाती है। फिर तो इसे किसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर असत्यापित नहीं किया जा सकता।

एक अन्य आक्षेप यह किया जा सकता है कि एयर के वृतांत के अनुसार तो प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियां, आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों का एक उपवर्ग बन जाती हैं।[4] उनके वृतांत से यही पता चलता है कि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियां प्रतीकों के प्रयोग संबंधी जानकारी देती हैं। पर यह निस्संदेह ही एक आनुभविक तथ्य है कि प्रतीकों का प्रयोग लोग इस खास ढंग से करते हैं जैसा कि वे वस्तुतः करते हैं। प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को इस प्रकार से तथ्य - सूचक मानना एयर की मूलभूत मान्यता के विरुद्ध है। वस्तुतःयह विरोध इतना स्पष्ट है कि इस संबंध में हमें यही सोचना पड़ेगा कि एयर का मंतव्य बिल्कुल वही नहीं है जो उनके वृतांत से प्रकट होता है। एयर स्वयं बाद में यह स्पष्टीकरण करते हैं। प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों की प्रामाणिकता शाब्दिक प्रयोग संबंधी तथ्यों पर निर्भर करती है; तथापि वे प्रतिज्ञप्तियां उन तथ्यों का विवरण नहीं देती हैं, जिस प्रकार आनुभविक प्रतिज्ञप्तियां अपने प्रमाणक तथ्यों का विवरण देती हैं। वे किसी भी तथ्य का विवरण नहीं देतीं, यद्यपि उनकी उपयोगिता इस आनुभविक तथ्य पर आधारित है कि अमुक प्रतीकें अमुक ढंग से प्रयुक्त किए जाते हैं।

अपने निबंध 'ट्रुथ बाइ कन्वेंशन' एयर ने यह अस्वीकार किया कि अनिवार्य प्रतिज्ञप्तियां सामान्य अर्थ में प्रतिज्ञप्तियां भी हैं।[5] जिन्हें प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियां कहा जाता है वे शब्दों के वास्तविक प्रयोग संबंधी विवरण न देकर यह निर्देश देती हैं कि शब्दों का किस प्रकार प्रयोग किया जाय। वे कोई कथन ही नहीं प्रस्तुत करती जिनकी सत्यता स्वीकार या अस्वीकार की जाय; वे तो केवल नियमों की स्थापना करती हैं जिनका हम

---

4. C. D. Broad, "Are there, Synthetic a Priori Truths," Aris, Soc,

5- Proceedings Suppl. Vol. 1936.

पालन कर सकते हैं या उल्लंघन ।[6]

प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को इस प्रकार भाषा-संबंधी नियमों के साथ तादात्मक मानने में दो मुख्य कठिनाइयां उपस्थित होती हैं । प्रथमतः, इन प्रतिज्ञप्तियों को सत्य कहा जाता है, जबकि भाषात्मक नियमों को ऐसा नहीं कहा जा सकता । दूसरे, ये प्रतिज्ञप्तियां अनिवार्य मानी जाती हैं, जबकि भाषा संबंधी नियम मूलतः मनमाने हैं । इस संबंध में यह तो सर्वमान्य है कि प्रागनुभविक सत्य से भाषात्मक परिभाषा निःसृत की जा सकती है, यथा, यह लें - 'कोई वस्तु एक ही समय में सम्पूर्ण रूप से विभिन्न रंगों की नहीं हो सकती ।' इससे यह भाषात्मक परिभाषा निःसृत कर सकते हैं - 'यह कहने का कोई अर्थ नहीं होता कि कोई वस्तु एकही समय में सम्पूर्ण रूप से विभिन्न रंगों की है ।' पर इससे यह निष्कर्ष तो नहीं निकलता कि उक्त अनिवार्य सत्य इस भाषात्मक परिभाषा के साथ तादात्मक है, तथा यह कि पहले को निश्शेष रूप से दूसरे में रूपान्तरित किया जा सकता है । एयर की व्याख्या में यह त्रुटि आ जाती है कि यह प्रागनुभविक अनिवार्य प्रतिज्ञप्तियों का भाषात्मक परिभाषाएं बताकर उन्हें वस्तुतः आकस्मिक तथा मनमाना बना देती है । जैसा कि एयर स्वयं जोर देते हैं, भाषात्मक प्रतिज्ञप्तियां तो आखित मनमानी हैं; ऐसा कोई तार्किक हेतु नहीं है जिसके चलते हम अपनी परिभाषा को इस प्रकार न बदल सकें कि यह कथन कि 'कोई वस्तु एक ही समय में दो स्थानों में नहीं हो सकती' एक अनिवार्य सत्य के बजाय आत्म-व्याघात व्यक्त करने लगे ।[7] फिर, प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को यदि कोई भाषात्मक परिभाषाएं कहना ही चाहें, तो अवश्य ही इन्हें अन्य भाषात्मक परिभाषाओं से सर्वथा भिन्न मानना पड़ेगा । क्योंकि स्पष्टतः ये प्रतिज्ञप्तियां हिन्दी, अंग्रेजी या किसी अन्य वास्तविक भाषा के

6- **Watling, J., *Analysis*, 1936, P. 20 .**

7. 58 ***Language, Truth and Logic*, Revised, P. 58.**

वाक्यों के विषय में नहीं है पर ऐसी स्थिति में तो इन्हें 'भाषात्मक' परिभाषाएं कहना निरर्थक, तथा साथ ही भ्रामक सिद्ध होगा ।

अपनी पुस्तक 'लेंग्विज, ट्रुथ ऐण्ड लौजिक'' की नई भूमिका में एयर इस मत का त्याग करते हैं कि प्रागनुभविक प्रतिज्ञप्तियां स्वयं भाषा - संबंधी नियम हैं । तथापि वह इस बात पर जोर देते हैं कि ये प्रतिज्ञप्तियां अनिवार्य हैं तो इसी कारण कि उपयुक्त भाषा-संबंधी नियम पहले मान लिए जाते हैं ।[8]

एयर की पूर्णतः 'भाषात्मक' व्याख्या के विरुद्ध आलोचक अंततः यह आरोप करेंगे कि अनिवार्य सत्य संबंधी को भाषात्मक प्रयोग संबंधी 'निर्णयों' के संदर्भ में देखकर उसे सापेक्षिक बना दिया जाता है । जब हम यह जिज्ञासा करते हैं कि अनिवार्य्र सत्यों के आधारगत 'भाषात्मक' निर्णयों का स्वरूप क्या है, तो एयर से हमें यही संकेत मिलता है कि वे किसी वास्तविक भाषा विशेष (यथा, हिन्दी) के अन्तर्गत सामान्य शब्दकोशीय परिभाषाओं से अभिन्न हैं ।[9] अब, किसी भाषा विशेष, यथा हिन्दी के अन्तर्गत भाषात्मक परिभाषाएं यह बताती हैं कि उस भाषा के अधिकांश प्रयोगकर्त्ता किस प्रतीक को किस ढंग से प्रयोग करने को, परोक्षरूप से ही सही, सहमत हुए हैं । और उनके द्वारा निर्दिष्ट नियम इस प्रकार के सापेक्षिक नियम है : 'यदि आप सही ढंग से हिन्दी बोलना चाहें, यानी जैसा कि अधिकांश हिन्दी भाषी बोलते हैं, तो आपको अमुक प्रतीक का प्रयोग अमुक ढंग से करना होगा ।' पर जब हम कोई अनिवार्य सत्य व्यक्त करते हैं (यथा, 'कोई वस्तु एक ही समय में सम्पूर्ण रूप से विभिन्न रंगों की नहीं हो सकती', 'दो सरल रेखाओं से कोई क्षेत्र नहीं घिरता'), तो स्पष्टतः हमारा मंतव्य हिन्दी वाक्यों, या किसी अन्य भाषा विशेष के प्रयोगों

---

8. ***Language, Truth and Logic*, Revised, P. 17.**

9. ***Language, Truth and Logic*, Revised, P. 17.**

मे नहीं रहता । और यदि यह सही है कि इन अनिवार्य प्रतिज्ञप्तियों का मुख्य अभिप्राय किसी भाषाविशेष के प्रयोगों मे नहीं है, तो फिर इन्हें भाषात्मक प्रयोगजन्य सत्य क्यों कहा जाय ? क्यों न इन्हें निरपेक्ष सत्य के रूप में मान्यता दी जाय जिनके प्रति हम कितनी भी (संभाव्य) भाषाओं में निर्देश कर सकते हैं ? इन आलोचकों की दृष्टि में, जिस प्रकार आइन्स्टाइन का गति-सिद्धांत गति को किसी विशेष विषय-परिधि से सापेक्ष मानकर निरपेक्ष गति की समस्या को टाल देता है, उसी प्रकार एयर द्वारा प्रस्तुत व्याख्या अनिवार्य सत्य संबंधी समस्या को भाषाविशेष के संदर्भ से बाहर स्वतंत्र रूप में समझने में असफल सिद्ध होता है ।

कुछ आलोचक विश्लेषणात्मक / संश्लेषणात्मक पृथक्कीकरण की वैधता का ही प्रश्न उठाना चाहेंगे । सामान्यतः किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता भाषा एवं भाषेत्तर तथ्य दोनों ही के ऊपर निर्भर करती है । इस संबंध में यह विचार आकर्षक लग सकता है कि प्रतिज्ञप्तियों की सत्यता का हम भाषात्मक एवं तथ्यात्मक अवयवों में विश्लेषण कर सकते हैं । और इस मान्यता के आधार पर आगे यह सहज ही सोचा जा सकता है कि कुछ प्रतिज्ञप्तियों में तथ्यात्मक अवयव शून्य होगा; वे ही विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियां हैं । पर यह युक्ति चाहे जितनी आकर्षक लगे, इन आलोचकों के अनुसार विश्लेषणात्मक तथा संश्लेषणात्मक के बीच स्पष्ट सीमा रेखा खींचना हमारे लिए संभव नहीं हो पाया है ।[10] सामान्यतः विश्लेषणात्मक की व्याख्या दी जाती है समानार्थकता के द्वारा, तथा समानार्थकता की व्याख्या स्थानान्तरणीयता के द्वारा । पर यह देख पाना कठिन नहीं है कि समानार्थक पदों को सर्वदा स्थानान्तरित नहीं किया जा सकता । यथा, "बैचलर ऑफ आर्ट्स" में "बैचलर" के स्थान पर "अनमैरेड मैन" या "अविवाहित पुरुष" हम नहीं रख सकते । इसी प्रकार यदि हम यह कहें कि "बैचलर" में पांच से कम

---

10. W. V. Quine, *From a Logical Point of View,* (Harper Paperback, 1963) में उनका निबंध "Two Dogmas of Empiricism".

अक्षर है तो इस उक्ति में "बैचलर" के स्थान पर "अनमैरेड मैन" नहीं रख सकते । इससे यह प्रकट होता है, ये आलोचक युक्ति देंगे, कि शब्दों या प्रतीकों को उनके प्रसंगों से अलग नहीं रखा जा सकता ।

अध्याय 3

ज्ञान और संशय

ज्ञान और संशय

ग्रीक दर्शन के प्रारम्भकाल से ही दर्शनशास्त्र में संशयवाद की एक परम्परा रही है । जेनोफेनीज (Xenophanes), जार्जियस (Gorgias), और प्राटोगोरस (Protagoras), संशयवादी सिद्धांत के आदि प्रतिनिधि माने जाते हैं । उग्र संशयवाद के अनुसार ज्ञान असंभव है । सुव्यवस्थित संशयवाद (Methodological Scepticism) एक हेलेनिस्टी घटना है । इसका प्रतिनिधित्व एलिया के पायरो (Pyrrho), अकादमी (280-88 ई.पू.) और ऐनेसिडेमस-सम्प्रदाय (Aenesidemus School) करते हैं । वैसे संशयवाद के कई रूप हैं, जैसे - धार्मिक संशयवाद, नैतिक संशयवाद, तत्वमीमांसीय संशयवाद, ज्ञानमीमांसीय संशयवाद इत्यादि । परन्तु इस अध्याय में ज्ञानमीमांसीय संशयवाद की चर्चा ही प्रांसगिक है ।

परम्परागत रूप से संशयवादी की पहचान एक ऐसे व्यक्ति के रूप में की गयी है जो किसी चीज को निश्चिततापूर्वक जानने से इन्कार करता है। निरपेक्ष संशयवादियों के अनुसार किसी वस्तु का ज्ञान असम्भव है। यदि कोई चीज जानी भी जाय तो उसका ज्ञान दूसरों को संप्रेषित नहीं किया जा सकता है । यद्यपि संशयवादी दार्शनिक बहस अथवा वाद-विवाद में सक्रिय भाग ले सकता है, तथापि इसके अनुसार किसी भी सिद्धांत का युक्तिपूर्वक समर्थन करना असम्भव है । जिस प्रकार किसी सिद्धांत के पक्ष में कोई तर्क प्रस्तुत किया जा सकता है, उसी प्रकार उसके विपक्ष में भी उतना ही सबल तर्क दिया जा सकता है । उग्र संशयवाद के अनुसार किसी सिद्धांत की प्रायिकता भी सिद्ध की जा सकती है । वस्तुतः संशयवादी एक उभयतोपाश की स्थिति में फँसा रहता है । वह कोई भी निर्णय (Judgement) लेने में असमर्थ रहता है क्योंकि किसी सिद्धांत के पक्ष और विपक्ष में युक्तियों का वल समान होता है । इससे यह स्पष्ट नहीं

होता है कि कौन-सा सिद्धांत अधिक तर्कसंगत है । संशयवादी की दृष्टि में ये दोनों प्रतिज्ञप्तियां समान बल वाली है -

(1) प्रतिज्ञप्ति 'क' सत्य हो सकती है ।

(2) प्रतिज्ञप्ति 'क' असत्य हो सकती है ।

'क' के स्थान पर किसी प्रतिज्ञप्ति को स्थापन्न किया जा सकता है । संशयवादी इन दोनों में से किसी के पक्ष में इन दोनों में से किसी के पक्ष में निर्णय नहीं ले पाता है । दूसरे शब्दों में, दोनों प्रतिज्ञप्तियां समान रूप से सम्भव (और असम्भव) हैं । इस प्रकार संशयवादी त्रिशंकु की भाँति मध्य में ही लटका रहता है, अर्थात वह कोई निर्णय नहीं कर पाता है । इस अर्थ में संशयवाद को एक सिद्धांत अथवा नियमों के एक सुव्यवस्थित निकाय के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है । यदि संशयवाद को इस अर्थ में लिया जाय तो यह किसी प्रकार की दार्शनिक स्वीकृति नहीं करता है । यहां तक कि कोई संशयवादी यह दावा नहीं कर सकता है कि वह हमेंशा संशयवादी ही रहेगा । अतः कुछ आलोचकों ने संशयवाद को एक तदर्थ (Ad-hoc), कामचलाऊ औा अस्थायी विचारधारा कहा है ।

तार्किक भाववाद और संशयवाद

यद्यपि तार्किक भाववादियों ने संशयवाद का खण्डन किया है, तथापि वे संशयवाद के एक नये रूप को जन्म देते हैं । वे समस्त ज्ञान को इन्द्रियानुभव के द्वारा सत्यापित करना चाहते हैं । उनके अनुसार समस्त आनुभविक ज्ञान, निसमें वैज्ञानिक सत्य भी सम्मिलित है, केवल प्रायिक होता है । वे तत्वमीमांसीय कथनों को निरर्थक कहते हैं । अतीन्द्रिय सत्ताओं से सम्बन्धित तत्वमीमांसीय कथन इन्द्रियानुभव के द्वारा असत्यापनीय होने के कारण निरर्थक हैं । वास्तव में अनुभववादियों के समक्ष दो विकल्प हैं - या तो उन्हें सोफिस्टों और पिरो के समान संशयवाद को एक उपयुक्त दार्शनिक

पद्धति के रूप में अपना लेना चहिये अथवा अपने अनुभववाद को अधिक परिमार्जित और तार्किक वनाना चाहिये ताकि इसे बौद्धिक धरातल पर स्वीकार किया जा सके । वस्तुतः निरपेक्ष संशयवादी समस्त सिद्धांतों पर संशय करके उनका खण्डन करना चाहता है । किन्तु उसके खण्डन और ध्वंस का लक्ष्य किसी सिद्धांत का मण्डन और निर्माण नहीं होता है । उसकी कोई सुनिश्चित दृष्टि नहीं हैं । वह कोई निर्णय लेने में असमर्थ होता है । संशयवाद के इस उग्र स्वरूप का समर्थन समकालीन दार्शनिक नहीं करते हैं । तार्किक अनुभववादियों ने परम्परागत मनोवैज्ञानिक अनुभववाद को संशोधित और परिमार्जित रूप में स्वीकार किया । उनकी दृष्टि से ह्यूम की यह मान्यता भ्रामक है कि तथ्यात्मक ज्ञान को भी अनिवार्य रूप से सत्य होना चहिये । वे विज्ञान (Science) को ही समस्त ज्ञान का मानदण्ड मानते हैं । सर्वमान्य वैज्ञानिक नियम और कथन प्रायिक होते हैं । यदि इस वैज्ञानिक कथनों का प्रायिक रूप से सत्य होना स्वाभाविक है तो उनके पूर्णरूप से निश्चायक और सत्य न होने को संशयवाद के घेरे में ला देना (समझना) ह्यूम की वहुत वड़ी भूल है । वैज्ञानिक कथन भले ही प्रायिक हों, किन्तु वे हमारे जीवन में व्यावहारिक धरातल पर उपयोगी और विश्वसनीय हैं । इसलिए तार्किक भाववादी संशयवादी नही हैं । हमें 'संशय करना' (to doubt) और 'संशयवाद' में स्पष्ट अन्तर करना चाहिये । किसी के बारे में केवल संशय करना संशयवाद का सूचक नहीं है । वैज्ञानिक कथनों को प्रायिक मानने का यह अर्थ नहीं है कि वे विश्वसनीय नहीं हैं । डेकार्ट ने सार्वभौमिक संशय का सहारा लिया था । उसने प्रायः जगत और जीवन की प्रत्येक वस्तु पर सन्देह व्यक्त किया । किन्तु उसका संशय सत्य की खोज और निश्चय पर पहुंचने का साधन मात्र है । उसका संशय प्रारम्भिक है । अन्त में वह निश्चय पर पहुंचता है । यही कारण है कि संशयवादी पद्धति का आश्रय

लेने पर भी डेकार्ट को संशयवादी नहीं कहा गया । इसी प्रकार तार्किक भाववादियों ने वैज्ञानिक कथनों की वास्तविक प्रकृति का विश्लेषण और स्पष्टीकरण किया । उन्हें प्रायिक मानने पर भी वे संशयवादी नहीं हैं । उनका लक्ष्य मानव-ज्ञान की वास्तविक प्रकृति और सीमाओं का निर्धारण करना था जिसके लिये वे दार्शनिक विश्लेषण की पद्धति का सहारा लेते हैं। उनका संशय अनुभव के विभिन्न तरीकों के प्रति अविश्वास, ईश्वर, आत्मा इत्यादि से सम्वन्धित है । वे परम्परागत अनुभव के तरीके (Way of experience) और अतीन्द्रिय सत्ताओं में अविश्वास करते हैं । ऐसा संशय संशयवाद का सूचक न होकर उनके आलोचनात्मक दृष्टिकोण का परिचायक है । वे केवल पूर्व मान्यतओं का खण्डन नहीं करते हैं, वल्कि दर्शनशास्त्र के एक नये स्वरूप और व्यापार की दिशा का बोध कराते हैं । उनका संशय संशय के लिए नहीं है, अर्थात तार्किक भाववादियों का लक्ष्य निषेधात्मक नहीं है । वास्तव में कोई सच्चा दार्शनिक पूर्ण संशयवादी नहीं हो सकता है । यहां तक कि ह्यूम भी पिरोवाद का खण्डन करता है । ह्यूम अपने निवन्ध (Treatise) में तीन प्रकार के ज्ञान का उल्लेख करता है -

(1) गणितीय ज्ञान

(2) उपपत्ति अथवा प्रमाण (Proof) पर आधारित ज्ञान और

(3) प्रायिक ज्ञान ।

रीड के अनुसार ह्यूम जहां तक पहले दो प्रकार के ज्ञान को स्वीकार करता है, उसे संशयवादी नहीं कहा जा सकता है । ह्यूम भी सभी वस्तुओं पर संशय नहीं करता है । ह्यूमी संशयवाद भी हमारे ज्ञान की सीमा और वौद्धिक क्षमता की संकीर्णता का वोध कराता है । उसका लक्ष्य हमारे

---

1. *मेटाफिजिक्स आव नेचर,* रीड, पृ. **87.**

विश्वासों को नष्ट करना नहीं, प्रत्युत उनसे सम्बन्धित मिथ्या पूर्वाग्रहों, अन्धविश्वासों और पूर्वमान्यताओं को दूर करना था । ये विश्वास आदतों और परम्पराओं के कारण उत्पन्न होते हैं । उनका कोई तार्किक आधार नहीं है । ह्यूमी संशयवाद ने न केवल काण्ट की रूढ़िग्रस्त मोहनिद्रा को भंग किया, बल्कि उसने समकालीन दर्शन को भी प्रभावित किया।[2] ह्यूम के संशयवाद का दोष यह है कि उसका आधार (परम्परागत अनुभववाद) ही दोषपूर्ण है । ह्यूम का संशयवाद लॉक के अनुभववाद की इस मान्यता पर आधारित है कि 'प्रत्येक ज्ञान इन्द्रियानुभव से उत्पन्न होता है ।' किन्तु ज्ञान के लिए बुद्धि की कोटियां (बुद्धि - विकल्प) और अनुभव दोनों आवश्यक हैं । हमारा ज्ञान अनुभव की व्याख्या के द्वारा प्राप्त होता है। अुनभव के ग्रहण और व्याख्या के लिए बुद्धि और उसके आकारों की आवश्यकता होती है । जिस प्रकार वैज्ञानिक नियमों का अंनुसंधान निरीक्षण से प्राप्त तथ्यों की तार्किक व्याख्या के आधार पर किया जाता है, उसी तरह ज्ञान की गवेषणा के लिए भी अनुभव की बौद्धिक व्याख्या और निरीक्षण इत्यादि आवश्यक है । सैद्धान्तिक दृष्टि से तार्किक अनुभववादी दर्शनशास्त्र की पद्धति को वैज्ञानिक पद्धति से अभिन्न मानते हैं । यह बौद्धिक व्याख्या, तार्किक अनुचिन्तन (Reasoned reflection) और निरीक्षण की पद्धति है ।[3]

ह्यूम का संशयवाद

आधुनिक पाश्चात्य दर्शन में संशयवादी दार्शनिक पद्धति का आश्रय प्रमुख रूप से डेविड ह्यूम ने लिया । दर्शन में संशयवाद को अनुभववाद का तार्किक परिणाम माना जाता है । यदि ज्ञान का एक मात्र स्रोत इन्द्रियानुभव को माना जाय तो वस्तुओं के आन्तरिक स्वरूप का ज्ञान असंभव हो

2- **Hume aroused me from my dogmatic slumber, (Kant).**
3- **Cunningham, *The Problem of Philosophy,* P. 79-81.**

जायेगा। उसके आधार पर भौतिक जगत के वाह्य स्वरूप को धुंधला अथवा सतही ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है । हमारा ज्ञान केवल वर्तमान काल और विशेषों तक सीमित होगा । उसमें सार्वभौमिकता और अनिवार्यता नहीं आ सकती है । भूतकाल की घटनाओं का आधार स्मृति (Memory) है । किन्तु स्मृति हमेशा सत्य नहीं होती है । इसलिए उसके आधार पर निश्चायक ज्ञान की आशा नहीं की जा सकती है । गणित, (बीजगणित और अंकगणित) सम्बन्धी कथनों के निश्चायक और अनिर्वाय होने का कारण यह है कि वे वस्तु जगत से सम्बन्धित नहीं है । वे हमारे प्रत्ययों के पारस्परिक सम्बन्धों पर आधारित होते हैं । उनका निषेध आत्म-व्याघाती होता है । जैसे, 5+5=10 नहीं होता है, यह कथन आत्म-व्याघाती है । गणित सम्बन्धी कथन इकाई के स्पष्ट प्रतिमान पर आधारित होते हैं । किन्तु हम अपनी बुद्धि की तर्क-प्रक्रिया पर पूर्ण विश्वास नहीं कर सकते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि हमारी बुद्धि ने गणित अथवा तर्कशास्त्र के नियमों का यथोचित रूप से पालन किया ही हो । यदि यह कहा जाय कि निरीक्षण-परीक्षण की प्रणाली का प्रयोग करके गणितीय नियमों की जांच की जा सकती है तो भी समस्या का समाधान नहीं होता है । निरीक्षण-परीक्षण की आगमनात्मक पद्धति प्रायिक (Probable) सत्य प्रदान कर सकती है । इसी प्रकार वस्तु तथ्य के विषय में हमारा ज्ञान प्रायिक होता है, अर्थात् हमें भौतिक जगत् के विषय में पूर्ण सत्य की प्राप्ति नहीं हो सकती है । ह्यूम के अनुसार प्रायिकता (Probability) में अनिश्चितता (Uncertainty) की कुछ मात्रा विद्यमान होती है । ह्यूम 'ज्ञान' को पूर्ण 'निश्चितता' के अर्थ में लेता है । जो कथन प्रायिक हैं उनमें केवल विश्वास ही किया जा सकता है, अर्थात इस भौतिक जगत में केवल विश्वास कर सकते हैं । इस विश्वास को तर्क के द्वारा प्रमाणित नहीं किया जा सकता है । इसका

आधार पूर्ववर्ती अनुभव और भावना है । किसी अनुभव की अनेक बार पुनरावृत्ति होने पर उसके प्रति हमारे मन में विश्वास उत्पन्न हो जाता है ।

ह्यूम का कहना है कि आगमनात्मक तर्क प्रणाली बुद्धि और अनुभव के द्वारा समर्थन योग्य नहीं है । इससे सिद्ध होता है कि उस पर आधारित हमारे विश्वास अन्धविश्वासों से भिन्न नहीं हैं । ये विश्वास मनोवैज्ञानिक रूप से उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार ह्यूम के अनुसार बुद्धि और इन्द्रियानुभव के आधार पर वाह्य जगत में हमारा विश्वास दोषपूर्ण और भ्रामक है ।[4] किन्तु प्रश्न यह उठता है कि यदि वाह्य जगत् के विषय में हमारा विश्वास त्रुटिपूर्ण और भ्रान्त है तो क्या हमें अपने विश्वासों और तर्कों को छोड़कर बाह्य जगत की सत्ता का निराकरण करना चाहिए? चूंकि वाह्य जगत् हमारी कोरी कल्पना पर आधारित नहीं है, इसलिए हम वाह्य जगत् में अपने विश्वास का निराकरण अथवा परित्याग नहीं कर सकते हैं। एक ओर तो जगत् में हमारा विश्वास सहज और स्वाभाविक है, दूसरी ओर हम जगत् के विषय में चाहे जिस तरह विचार करें, उसका ज्ञान संभव नहीं प्रतीत होता है । सम्पूर्ण तथ्यात्मक ज्ञान प्रायिक, अनिश्चित और इसलिए संशयग्रस्त है । ह्यूम के अनुसार किसी विषय पर गम्भीर चिन्तन या अनुशीलन करने से संशय बढ़ता ही जाता है । 'असावधानी' (Carelessness) और किसी विषय पर अपना ध्यान केन्द्रित न करना अथवा 'ध्यान न देना' (Inattention) ही संशयवादी सन्देह का एकमात्र उपचार है ।[6] किन्तु वाद में ह्यूम ने अपने उग्र संशयवाद का परित्याग करके शास्त्रीय संशयवाद (Academic Scepticism) का समर्थन किया । शास्त्रीय संशयवाद से हमारे चिन्तन और दृष्टिकोण में निष्पक्षता आती है ।

4- **Harries, Errol, E.,** ***Fundamentals of Philosophy*****, Allen & Unwin : London, 1969, P. 253-62 .**

6- **Hume,** ***A Treatise on Human Nature*****, Part I Sec. IV,**

हम अनेक प्रकार के अन्धविश्वासों और पूर्वाग्रहों से मुक्त हो जाते हैं । वह पिरोवाद अथवा निरपेक्ष संशयवाद को भी एक दुराग्रह कहता है । ह्यूम कुछ विश्वासों को तार्किक मानता है जो भावात्मक विश्वासों से भिन्न होते हैं। ह्यूम वाह्यजगत् के अस्तित्व और कारणता में मानव विश्वास को प्राकृतिक अथवा सहज मानता है । इन दोनों विश्वासों के अतिरिक्त अन्य विश्वास कृत्रिम हैं । प्राकृतिक विश्वास अन्धविश्वासों अथवा कृत्रिम विश्वासों से भिन्न हैं । प्राकृतिक विश्वासों का कारण स्वयं मानव-प्रकृति (Human nature) है । वे समस्त युक्तियों के आधार हैं । ह्यूम तार्किक दृष्टि से संशयवादी है, किन्तु विश्वास और कल्पना के कारणवह वाह्य जगत को मानता है । वस्तुतः कल्पना और विश्वास में अन्तर है । कल्पना वास्तविक अनुभव के परे भी हो सकता है । विश्वास अनुभव से उत्पन्न होता है । काल्पनिक वस्तु में विश्वास करना आवश्यक नहीं होता है । **प्राकृतिक विश्वासों के कारण ह्यूम का उग्र संशयवाद विनम्र संशयवाद में परिणत हो जाता है ।** किन्तु इसे प्रामाणिक विश्वास नहीं कहा जा सकता है क्योंकि जगत् के ज्ञान का कोई तार्किक प्रमाण नहीं है । अतः ह्यूम अन्त में भी संशयवादी बना रहता है । उसके संशयवाद का महत्व इस बात में है कि वह परम्परागत अनुभववाद की विसंगतियों को उद्घाटित करता है । दूसरे शब्दो में, उसका संशयवाद लॉक के अनुभववाद का तार्किक परिणाम है। यह संशयवाद हमारे ज्ञान के संवेदनों, संस्कारों और प्रत्ययों तक सीमित कर देता है । अतः इसके आधार पर वाह्य जगत, कारणता, ईश्वर, आत्मा इत्यादि में से किसी का अस्तित्व और ज्ञान तर्कतः सम्भव नहीं है । इनके ज्ञान का दावा करना स्वयं को धोखा देना है ।

मूर के द्वारा संशयवाद का निराकरण

प्रायः सभी प्रमुख दार्शनिकों ने अपने सिद्धान्त की स्थापना करने के लिए संशयवाद का खण्डन करना आवश्यक समझा। संशयवाद दर्शन में एक जीवन्त विचारधारा के रूप में ज्ञानमीमांसाकों को चेतावनी देता रहा। रसेल जैसा विचारक संशयवाद के तार्किक औचित्य को स्वीकार करता है। मूर के अनुसार रसेल की दो कृतियों **'जड़तत्व का विश्लेषण'** और **'दर्शन की रूपरेखा'** में संशयवाद के निम्नलिखित चार रूपों का विवेचन मिलता है-

(1) अपने बारे में संशय (Scepticism about myself)

(2) स्मरण पर संशय अर्थात जिसे मैं याद करता हूं उस पर संशय।

(3) अन्य लोगों के साधारण प्रत्यक्षों पर संशय ।

(4) वाह्य वस्तुओं (जैसे 'यह पेंसिल है') पर संशय ।

मूर के अनुसार, "मैं अपने बारे में निश्चयतापूर्वक कुछ नहीं जानता हूँ ।" इसकी वैधता स्मरण से सम्बन्धित इस युक्ति पर आधारित है - "मैं निश्चयतापूर्वक किसी वस्तु को नहीं जानता हूँ, जिसकी मुझे स्मृति हो ।" स्मृति का प्रयोग कई अर्थों में किया जाता है । यदि किसी व्यक्ति ने वस्तु - स्थिति का स्वयं अनुभव न किया हो या स्वयं साक्षी न हो, तो ऐसी व्यक्तिगत स्मृति संशयात्मक हो सकती है । किन्तु ऐसी अनेक स्मृतियां हैं जिन्हें व्यक्तिगत नहीं कहा जा सकता । जैसे -

(1) 9 X 7 = 63 होता है ।

(2) हेस्टिंग्ज का युद्ध सन 1066 ई. में हुआ था ।

9 X 7 = 63 भूतकालीन स्मृति नहीं है, इसी प्रकार हेस्टिंग्ज युद्ध की घटना किसी जीवित व्यक्ति की व्यक्तिगत स्मृति नहीं है, अर्थात इस पर व्यक्तिगत स्मृति की भांति सन्देह नहीं किया जा सकता है ।[7]

रसेल ने स्वप्न की घटनाओं के स्मरण के आधार पर संशयवाद का समर्थन किया है । मूर के अनुसार यह रसेल की भूल है । स्वप्नों की कुछ ऐसी घटनाएं जो कभी घटित नहीं होती है, के आधार पर संशयवाद का समर्थन नहीं किया जा सकता है । स्वप्न की घटनाओं के लिए स्मरण का प्रयोग साधारण अवस्थाओं (जैसे॰ जागरण) में 'स्मरण' के प्रयोग से भिन्न होता है । स्वप्न की जो घटनाएं कभी घटित नहीं हुई हैं, उनका स्मरण कैसे सम्भव है ? वास्तव में उनकी याद नहीं की जाती है, बल्कि हम ऐसा सोचते हैं कि उनकी याद करते हैं । रसेल 'घटना की वास्तविक स्मृति' और 'स्मृति के चिन्तन' को एक समझने की भूल करता है ।[8] मूर कहता है कि मैं स्वयं 'अपना' तथा कुछ क्षण पहले उच्चरित 'रसेल' जैसी ध्वनि के श्रवण और स्मरण का ज्ञान साक्षात् रूपसे प्राप्त करता हूं । अतः इस पर संशय नहीं किया जा सकता है । रसेल, 'यह एक पेंसिल है', जैसे कथन को निश्चायक नहीं मानता है क्योंकि यह आगमनात्मक युक्ति पर अधारित है । इस सम्बन्ध में रसेल की कुछ मान्यताएं है -

(1) मेरा विश्वास कि यह एक पेंसिल है - यदि यह कथन न साक्षात् रूप से ज्ञात है और न किसी अन्य कथन से तर्कतः निगमित होता है तो यह आगमनात्मक अनुमान होगा ।

---

[7] ***Philosophical Papers,*** **London, 1959, P. 200**

[8] ***Philosophical Papers, May Four Forms of Scepticism*****, London 1959, P. 216-17**

9. ***Philosophical Papers, May Four Forms of Scepticism*****, London 1959, Ps.225-26**

(2) जो आगमनात्मक युक्ति पर आधारित हो उसे निश्चित रूप से नहीं जाना जा सकता है । यह कम या अधिक प्रायिक विश्वास मात्र होगा ।

मूर रसल की द्वितीय मान्यता का विरोध करता है । 'यह एक पेंसिल है' आगमनात्मक युक्ति पर आधारित और आपातिक (Contingent) कथन होने के बावजूद निश्चायक है ।[9] यह सामान्य बुद्धि के अनुकूल है। इस पर संशय नहीं किया जा सकता है । कोई कथन आपातिक होने पर भी जाना जा सकता है । 'मैं जानता हूं' कि 'प' और 'मैं' प के विषय में पूर्णतया निश्चित 'हूँ' में कोई विरोध नहीं है । मूर ने सामान्य बुद्धिपरक ज्ञान (Common-sense knowledge) को महत्व दिया है। उसके अनुसार मानव-ज्ञान को केवलतार्किक और साक्षात ज्ञान तक सीमित नहीं किया जा सकता है । हम ऐसी बहुत-सी वस्तुओं को जानते हैं जो न तो साक्षात् रूप से जानी जाती हैं और न तार्किक रूप से निगमित की जा सकती हैं । ऐसी वस्तुओं को भी जाना जा सकता है जिनके ज्ञान को तर्कतः सिद्ध न किया जा सके । 'मैं उन वस्तुओं को जान सकता हूं, जिन्हें मैं सिद्ध नहीं कर सकता हूं ।'[10] वस्तुतः मूर और रसेल की मान्यवाएं एक दूसरे से पर्याप्त भिन्न हैं । रसेल के लिए दर्शन विज्ञान के निकट है । उसे सामान्य बुद्धि पर आधारित नहीं किया जा सकता है । रसेल 'ह्यूमन नॉलेज' (Human knowledge : Its Scope and Limits) में स्वीकार करता है कि संशयवाद तार्किक दृष्टि से निर्दोष है, किन्तु यह मनोवैज्ञानिक दृष्टि से असम्भव है । कोई दर्शन जो इसे स्वीकार करने का बहाना करता है, उसमें कुछ न कुछ पाखण्ड अवश्य होगा ।[11] उल्लेखनीय

---

9. *Philosophical Papers, May Four Forms of Scepticism*, London 1959, Ps.225-26

10. *Philosophical Papers, May Four Forms of Scepticism*, London 1959, P. 150 & 235 .

11. *Philosophical Papers, May Four Forms of Scepticism*, London 1959, P.225-26

है कि मूर ने दार्शनिक समस्याओं के विरोधाभासी स्वरूप को अवश्य उठाया, किन्तु वह इस महत्वपूर्ण प्रश्न का उत्तर नहीं देता है कि दार्शनिक लोग इन अन्तर्विरोधों का विवेचन करने में क्यों व्यस्त रहते हैं । इसी कारण मेट्ज ने मूर को एक अच्छा प्रश्नकर्ता, किन्तु खराब उत्तर देने वाला (अच्छा उत्तर न देने वाला) कहा है । इन समस्याओं पर प्रकाश डालने का श्रेय विटगेन्स्टाइन को है । रसेल के अनुसार संशयवाद को तार्किक दृष्टि से उत्तर देना चाहिये । केवल सामान्य बुद्धि को आधार मान करके उसका निराकरण नहीं किया जा सकता है ।

संशयवाद और निश्चितता

(Scepticism and Certainty)

ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से संशयवाद मनोवैज्ञानिक निश्चितता का विरोधी है । मनोवैज्ञानिक निश्चितता किसी ऐसे कथन की सत्यता के लिए एक आश्वासन है जो प्रमाणीकरण के योग्य होता है । तार्किक निश्चितता (Logical Certainty) इससे भिन्न होती है । इसे प्रतिज्ञप्तियों में अभिव्यक्त किया जा सकता है । तार्किक निश्चितता प्रमाणीकरण की प्रक्रिया से परे होती है । इसकी प्रामाणिकता उस प्रतिज्ञप्ति से बाहर नहीं होती है। वस्तुतः तार्किक निश्चितता अथवा अनिवार्यता की अवधारणा प्रायिकता (Probability) के विरोध में की गई है । ऐसी निश्चितता या तो होती है अथवा नहीं होती है, अर्थात तार्किक निश्चितता या तो पूर्णतया सत्य होती है अथवा नहीं । उसे प्रायिक सत्य की कोटि में नहीं रखा जा सकता है ।**12**

प्रायः संशयवादियों का तर्क यह है कि ज्ञान का सम्बन्ध न केवल प्रमाणीकरण से है, बल्कि निश्चितता से भी है । यह कहा जा सकता है कि गेटियर के द्वारा दिये गये प्रति-उदाहरण (Counter-Example) में

---

12. Paul, Edwards, (Ed.), *Encyclopaedia of Philosophy*, Part II (Vol. II), Macmillan NewYork, 1967 P. 67-70.

यद्यपि विश्वास सत्य होने के साथ-साथ प्रमाणित भी होता है, तथापि यह निश्चित (Certain) नहीं है। अतः इसे 'ज्ञान' नहीं कहा जा सकता है। विचारणीय समस्या यह है कि क्या ज्ञान पूर्णरूप मे निश्चित होता है ? अथवा क्या 'ज्ञान' पूर्ण निश्चितता है ? कुछ दार्शनिकों के अनुसार यह विश्वास किया जा सकता है कि हमें अमुक प्रतिज्ञप्ति का ज्ञान है, किन्तु उसकी पूर्ण निश्चितता (Absolute Certainty) में विश्वास करना आवश्यक नहीं है। हम बहुत सी आपातिक और आनुभविक प्रतिज्ञप्तियों को जानते हैं। उनके सम्बन्ध मे तार्किक निश्चितता की मात्रा में अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है। बिना प्रमाण या पर्याप्त प्रमाण के भी कोई व्यक्ति किसी कथन के विषय में निश्चितता का अनुभव कर सकता है। **ए.जे. एयर** का दावा है कि यदि कोई ज्ञाता किसी प्रतिज्ञप्ति को जानता है; तो उसे प्रतिज्ञप्ति के विषय में 'निश्चित होने का अधिकार' (Right to be sure) है।[13] यहां पर ज्ञाता का ज्ञात प्रतिज्ञप्ति के विषय में निश्चित होना मनोवैज्ञानिक है। मनोवैज्ञानिक निश्चितता को आत्मनिष्ठ-निश्चितता अथवा आत्म-विश्वास कहा जा सकता है। इस सन्दर्भ में विटगेन्श्टाइन का यह कथन उल्लेखनीय है -

"इसका क्या अर्थ होता है - किसी प्रतिज्ञप्ति का सत्य (होना) निश्चित है।"[14]

"निश्चय शब्द से हम पूर्ण विश्वास या धारणा (Complete Conviction)", संशय की पूर्ण अनुपस्थिति को व्यक्त करते हैं और उसके द्वारा हम दूसरे लोगों को कायल करने की कोशिश करते हैं। यह आत्मनिष्ठ निश्चितता है।[15]

---

13. A.J.Ayer, The Problem of Knowledge, Penguin Books, 1956, P. 31

14. Wittgenstein, Ludwig, On Certainty (Ed.) Anscombe. G.E.M. and Wright. G.H.Von, Harper Row : New York, 1972.
15. With the word "Certain" We express Complete Conviction, the total abesnce of doubt, and thereby We seek to Convince other People. Thaat is Subjective Certainty, On Certainty, Wittgenstein .

इसी अनुच्छेद में विटगेन्श्टाइन वस्तुनिष्ट निश्चितता को भी परिभाषित करता है । कोई चीज वस्तुनिष्ट निश्चितता से युक्त केवल तब कही जा सकती है, जब उसके सम्बन्ध में किसी प्रकार की तार्किक भूल सम्भव न हो । किसी प्रतिज्ञप्ति का वस्तुनिष्ठ निश्चितता से युक्त होना प्रमाण के परिमाणअथवा शक्ति पर निर्भर नही है ।

विटगेन्श्टाइन के अनुसार वस्तुनिष्ठ निश्चितता से युक्त प्रतिज्ञप्ति के लिए कोई प्रमाण प्रासंगिक नहीं हो सकता है क्योकि उसकी स्वीकृति भाषा खेल के लिए आवश्यक उन भाषिक अभ्यासों पर निर्भर होती है, जिसके अन्तर्गत उस प्रतिज्ञप्ति का प्रयोग किया जाता है । यह कहना कि कोई कथन वस्तुनिष्ट निश्चितता से युक्त है, यह दावा करना है कि उस कथन की वक्ता के भाषिक समुदाय (Linguistic Commuity) में एक विशेष भूमिका है ।16

संशयवादियों का एक दावा यह है कि निरपेक्ष रूपसे प्रामाणिक निश्चितता (Absolute evidential certainty) ज्ञान की एक अनिवार्य शर्त है । किन्तु कुछ दार्शनिकों के अनुसार, यदि ज्ञान की अनिवार्य शर्त के रूप में निरपेक्ष निश्चितता को माना जाय तो अपरोक्ष संशयवाद से नहीं बचा जा सकता है । निरपेक्ष निश्चितता का सम्बन्ध विश्लेषणात्मक प्रतिज्ञप्तियों अथवा मूल प्रतिज्ञप्तियों (Basic Propositions) से है । **कीथ लेहरर** का दावा है कि **'ज्ञान निश्चितता को अनुलग्न करता है'**, यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो इसका अपरिहार्य परिणाम संशयवाद होगा । इसलिए लेहरर कहता है, "........इस प्रकार हमारी ज्ञानमीमांसा निश्चितता-रहित ज्ञानमीमांसा है । हम संशयवादी से सहमत हैं कि यदि मनुष्य

---

16. *सरटेनटी : ए रेफूटेशन आव् स्केप्टिसिजम,* पीटर डी. क्लीन, दि हारवेस्टर प्रेस **1981, P. 129-38 .**

निश्चिततापूर्वक जानने का दावा करता है तो वह नहीं जानता है कि वह कहां से बोल रहा है ।"[17]

इस सम्बन्ध में विटगेन्श्टाइन की **'आन सरटेनटी'** में स्पष्ट रूप से विचार किया गया है । वह कहता है - 'ज्ञान और निश्चितता' भिन्न वर्गणाओं या कोटियों (Categories) से सम्बधित हैं । वे अटकल या गेस्स करने (Surmising) और 'निश्चित होने' (Being sure) के समान दो मानसिक अवस्थाएं नहीं हैं । (अनु. 308) वह पुनः अनु. 504 में कहता है, "मैं कोई चीज जानता हूं, यह इस पर निर्भर करता है कि (सम्बन्धित) प्रमाण मेरा समर्थन करता है अथवा व्याघाती है ।" उसके अनुसार, यह दावा करना कि 'अमुक कथन निश्चित है', यह संकेत करता है कि उसके लिए कोई प्रमाण नहीं है, अर्थात किसी निश्चित कथन को स्वीकार करना प्रमाण पर निर्भर नहीं है, उस कथन की स्वीकृति (Acceptability) भाषिक अभ्यासों में निहित है ।

वाह्य जगत् में भौतिक वस्तुएँ, अथवा मूर का यह कथन, 'यह एक हाथ है', साधारण परिस्थितियों में हमारे भाषा-खेल (language-Game) के अन्तर्गत निश्चितता से युक्त है । साधारण परिस्थितियों में इस प्रमाणित करने की आवश्यकता नहीं होती है । इसके विपरीत यदि कोई व्यक्ति कहता है कि मै जानता हूं, तो वह (व्यक्ति) जिसे जानता है, उसके विषय में प्रमाण देने के लिए तैयार रहता है । यह कहना कि 'प' (कोई कथन है) निश्चित है, 'प' के सम्बन्ध में समस्त प्रमाणों के लिए रास्ता बन्द कर देने का प्रयास है । विटगेन्श्टाइन के अनुसार मूर का यह दावा सत्य है कि 'यहाँ एक हाथ है', इसे जाना जाता है । (कम से कम साधारण परिस्थितियों में) ।[18] किन्तु विटगेन्श्टाइन के विचार से पूरी तरह सहमत

---

17. *नॉलेज, लेहरर,* **P. 33-39**

18. *'आन सरटेनटी'* अनुच्छेद **462,520-21,487-489,622 .**

होना कठिन है । 'ज्ञान' और 'निश्चितता' को एक दूसरे से भिन्न कोटियां भले ही माना जाय, किन्तु उनके बीच अनुलग्नता (Entailment) का पूर्णरूप से निराकरण नहीं किया जा सकता है । विटगेन्श्टाइन और उसके अनुयायियों ने संशयवाद के आक्रमण से बचने के लिए 'ज्ञान' को 'निश्चितता' से भिन्न प्रकार की वर्गणा (Category) माना । यह सत्य कि कभी-कभी 'निश्चितता को 'ज्ञान' मान लेने की भूल की जाती है, अर्थात निश्चितता मात्र ज्ञान नहीं है । किन्तु यदि ज्ञान की व्याख्या प्रमाणों पर आधारित सत्य विश्वास के रूप में की जाय, तो ज्ञान के होने पर निश्चितता का न होना असम्भव है ज्ञान की स्थिति में ज्ञाता कि लिए निश्चितता मनोवैज्ञानिक होने के साथ-साथ प्रमाणों पर आधिारित भी हो सकती है । पर्याप्त या निर्णायक साक्ष्य के आधार पर पूर्ण निश्चितता का दावा भी किया जा सकता है । संशयवादी ज्ञान के सम्बन्ध में इसी पूर्ण निश्चितता को चुनौती देता है । संशयवादी की भूल यह है कि वह त्रुटि (Error) की तार्किक सम्भावना और 'वास्तविक त्रुटि' के घटित होने को अभिन्न मान लेता है । कुछ साक्ष्य वास्तविक जगत में हमारे विश्वासों के प्रमाणीकरण की गारन्टी देते हैं । किन्तु संशयवादी की दृष्टि में ये साक्ष्य सभी सम्भव परिस्थितीयों में हमारे विश्वासों के प्रमाणीकरण की गारन्टी नहीं देते हैं ।

कुछ दार्शनिक प्रमाण की सार्वभौमिकता के पक्ष में नहीं है । यदि हमारा प्रमाण तार्किक संशय से परे (Beyond the reasonable) है तो उसका खण्डन केवल संशय की कल्पना करने या काल्पनिक संशय के आधार पर नहीं किया जा सकता है । जिस तरह ज्ञान के लिए कुछ शर्तें आवश्यक हैं उसी प्रकार संशयवाद के लिए भी कुछ शर्तें आवश्यक है । **ए.जे.एयर** और **जे.एल. आस्टिन** जैसे दार्शनिक प्रत्येक परिस्थिति में प्रमाण को ज्ञान के लिए आवश्यक नहीं मानते हैं । एयर के अनुसार निजी

अनुभवों (Private experiences) को व्यक्त करने वाली मूल प्रतिज्ञप्तियों (Basic propositions) के सन्दर्भ में प्रमाण का प्रश्न ही नहीं उठता है। इस सन्दर्भ में विटगेन्श्टाइन का विचार भी उल्लेखनीय है। वह **'फिलॉसोफिकल इनवेस्टीगेशन्स'** में कहता है कि 'व्यक्तिगत अनुभूतियों' की अभिव्यक्ति के लिए 'मैं जानता हूं कि मुझे दर्द है।' 'जानना' (To know) और 'निश्चयतापूर्वक' (For certain) केवल उन्हीं स्थितियों में प्रयुक्त किये जा सकते हैं, जहाँ भूल की सम्भावना हो। अपने दर्द के सम्बन्ध में भूल की कोई सम्भावना नहीं होती है। इसलिए 'मैं जानता हूँ', 'मैं सोचता हूँ' और 'मैं निश्चित हूँ' का प्रयोग उत्तम पुरूष (The ferst person) की संवेदन अभिव्यक्तियों के सन्दर्भ में नहीं किया जा सकता है। उसके सम्बन्ध में प्रमाणीकरण की मांग का कोई औचित्य नहीं है। उसके अनुसार 'मैं जानता हूं' का प्रयोग अन्य व्यक्ति (Third person) के संवेदनों के सन्दर्भ में सार्थक और तर्कसंगत रूप मे किया जा सकता है। अतः अन्य व्यक्ति (The third person) के सन्दर्भ में 'संवेदन अभिव्यक्तियों' से सम्बन्धित संशयवाद अपना महत्व खो बैठता है।**19**

विटगेन्श्टाइन दूसरे लोगों को अनुभूतियों से सम्बन्धित संशयवाद का निराकरण करता है। उसके अनुसार दैनिक जीवन में कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं, जिनमें मैं दूसरों के दर्द या कष्ट के बारे में उतना ही निश्चित हूँ, जितना कि स्वयं अपने दर्द के विषय में। मान लीजिए कि कोई व्यक्ति दुर्घटनाग्रस्त हो गया हो। उसे रक्तस्राव हो रहा हो, वह सहायता के लिए कराह रहा हो तथा वह घायल व्यक्ति खून मे लथपथ (भीग गया) हो गया हो। यह एक ऐसी परिस्थिति है, जहां दूसरों के दर्द के विषय में सन्देह के लिए कोई स्थान नहीं है। इस परिस्थिति में सन्देह करना निराधार और मिथ्याप्रलाप होगा। सन्देह के लिए केवल यह कह देना

---

19. *ए स्टडी आव विटगेन्श्टाइन्स फिलॉसोफी,* डी. एन. द्विवेदी, **P. 211-114 .**

पर्याप्त नहीं है कि 'मैं सन्देह करता हूं ।' जिन परिस्थितियों में सन्देह किया जाय, उनमें कोई ऐसा तथ्य होना चाहिए, जो हमारे सन्देह की पुष्टि करे । इसके अतिरिक्त जब कभी हम संशयग्रस्त होते हैं तो उस सन्देहात्मक मनोवृत्ति मे हमारा व्यवहार और दृष्टिकोण भी प्रभावित होता है। यदि संन्देह का हमारे जीवन, क्रिया-कलाप और दृष्टिकोण पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है तो एक रूप संदेह निराधार है तो एक रूप (A form of life) मानता है । वस्तुतः 'संशय की कल्पना' करना 'वास्ताव में संशयग्रस्त हो जाना' नहीं है ।[20] दोनों एक दूसरे से भिन्न है ।

ए. जे. एयर ने भी निरपेक्ष संशयवाद का निराकरण किया है । उसके अनुसार सभी प्रत्यक्षों को भ्रामक (Illusory) कहना निरर्थक है । किसी प्रत्यक्ष को अन्भ्रान्त अथवा सही (Veridical) प्रत्यक्षों के सापेक्ष रूप में ही भ्रामक कहा जा सकता है । यदि सभी प्रत्यक्षों को भ्रामक कहा जाय तो 'भ्रामक' शब्द अपने अर्थ मे ही वंचित हो जायेगा । कुछ प्रत्यक्षों की भ्रामकता से यह सिद्ध होता है कि कुछ प्रत्यक्ष अभ्रान्त भी होते हैं। एयर के द्वारा संशयवाद के विरूद्ध दिये गये इस तर्क को 'भाषिक प्रागनुभविक' (Linguistic Apriori) कहा जा सकता है । उसके द्वारा संशयवाद को दिया गया उत्तर उग्र संशयवादियों के विरूद्ध कैसे लागू हो सकता है ? विनम्र संशयवादियों के अनुसार यह आवश्यक नहीं है कि सभी प्रत्यक्ष भ्रामक हों । किन्तु हम इसे प्रमाणित नहीं कर सकते हैं कि ये प्रत्यक्ष भ्रामक नहीं हैं । एयर का दावा है कि उसका पूर्वोक्त उत्तर यहां पर भी लागू होता है । हमारे जीवन में अनेक भ्रामक प्रत्यक्ष (जैसे - भ्रम, विभ्रम, गलत स्मृतियां इत्यादि) घटित होते हैं । इससे स्पष्ट है कि कुछ परिस्थितियों में प्रत्यक्षों की भ्रामकता से इन्कार नहीं किया जा सकता है । किन्तु एयर

---

20. *फिलॉसोफिकल इनवेस्टीगेशन्स,* अधि. **84, 180, 220, 288 .**

21. दि प्राब्लम आव नॉलेज, ए.जे.एयर, **P. 37-38 .**

की दृष्टि से भ्रान्त प्रत्यक्षों की सार्थकता के लिए अभ्रंत प्रत्यक्षों का होना आवश्यक है ।[21] और दूसरे शब्दों में, भ्रामक प्रत्यक्षों और गलत स्मृतियों की संभावना अभ्रान्त प्रत्यक्षों और सही स्मृतियों की सम्भावना को सिद्ध करती है ।

यह सत्य है कि इन्द्रियां कभी-कभी धोखा देती हैं, किन्तु कालान्तर में उन्हीं इन्द्रियों से त्रुटियों का पता भी चलता है । उदाहरण के लिए अंधेरे में पड़ी हुई रस्सी 'सर्प' का भ्रम पैदा करती है । प्रकाश में उन्हीं आंखों से देखने पर रज्जुसर्प का भ्रम दूर भी हो जाता है । अतः संशयवाद के इन सामान्य रूपों का अनुभव के अर्न्तगत कोई तार्किक औचित्य नहीं सिद्ध होता है । दूसरें शब्दों में, कभी-कभी बुद्धि, इन्द्रियों और स्मृतियों के धोखा देने अथवा भ्रामक होने से संशयवाद की सिद्धि नहीं हो सकती है ।

उपर्युक्त विवरणों से स्पष्ट है कि उग्र (Radical) अथवा निरपेक्ष (absolute) संशयवाद को तार्किक और मनोवैज्ञानिक दृष्टियों से स्वीकार नहीं किया जा सकता है । संशयवादी कम से कम इतना जानता है कि 'ज्ञान असम्भव है' अथवा 'मैं कुछ नहीं जानता हूं ।' यदि मैं कुछ जानता हूँ तो वह यह है कि ज्ञान असम्भव है । इस विरोधाभासी निष्कर्ष से सिद्ध होता है कि संशयवाद युक्तिसंगत (वैध) नहीं है । इसे स्वीकार करने पर संशयवाद का ही निषेध हो जायेगा । यदि पिरोवादी कहता है कि मैं कुछ नहीं जानता हूं तो उसे इसका भी ज्ञान नहीं हो सकता कि ज्ञान असम्भव है। संशयवाद ज्ञानमीमांसा के लिए कितना घातक या उपयोगी है, यह संशयवाद की प्रकृति (स्वरूप) पर निर्भर है । ज्ञानमीमांसा के क्षेत्र में संशयवाद की उपेक्षा नहीं की जा सकती है । ज्ञान की सम्भावना को सिद्ध करने के लिए संशयवादियों के ज्ञान-विरोधी तर्कों का उत्तर देना आवश्यक है। यह उल्लेखनीय है कि सन्देह हमेशा घातक नहीं होता है । यदि

---

21. दि प्राब्लम आव नॉलेज, ए.जे.एयर, **P. 37-38 .**

संशयवादी पद्धति का आश्रय अन्धविश्वास, पूर्वाग्रह इत्यादि को दूर करने और वैज्ञानिक दृष्टिकोण को विकसित करने के लिए किया जाय तो उससे ज्ञानमीमांसकों को कोई आपत्ति नहीं है । डेकार्ट, प्राइस, जार्ज सान्टयाना, रसेल इत्यादि ने किसी न किसी रूप में संशयवादी पद्धति का अनुसरण किया है । जिस प्रकार ज्ञान के लिए कुछ शर्तें या प्रमाण आवश्यक हैं, उसी तरह संशय के लिए कुछ आधार होना चाहिए । दूसरे शब्दों में, यदि हमारे संशय युक्तिसंगत हैं तो वे ज्ञानमीमांसा के लिए उपयोगी होंगे। उससे हमारे वैज्ञानिक विश्वासों से सम्बन्धित समस्त पहलुओं पर सम्यक विचार-विमर्श करने की प्रेरणा मिलती हैं । यह सत्य है कि हमारे वैज्ञानिक विश्वास समय-समय पर परिवर्तनशील, संशोधनीय और प्रायिक होते हैं । उनकी पूर्ण निश्चितता पर संशय वैज्ञानिक अनुसंधान को प्रोत्साहित करता है। ऐसा संशय रोग नहीं, बल्कि स्वस्थ मानसिकता और अपने विश्वासों के प्रति सावधान तथा जागरूक होने का परिचायक है । हाँ, यह अवश्य है कि निरपेक्ष संशयवाद (पिरोवाद) अथवा ह्यूम का उग्र संशयवाद, जिसका उद्देश्य प्रत्येक विश्वास, नियम तथा ज्ञान पर संशय करना है, तार्किक दृष्टि से निन्द्य है । उसका लक्ष्य केवल ध्वंस है, न कि निर्माण । दूसरे शब्दों में, यदि संशयवाद की कोई रचनात्मक भूमिका न हो, वह केवल छिद्रान्वेषी हो, तो त्याज्य है ।

अध्याय 4

अन्य मनस का ज्ञान

अन्य मनस् का ज्ञान

(Knowledge of other Minds)

व्यक्ति के सप्रत्यय में अन्य मनस् का ज्ञान एक महत्वपूर्ण ज्ञानमीमांसीय समस्या है । यह समस्या संशयवादियों के लिए विशेष आकर्षण का विषय है । इस सन्दर्भ में मुख्य समस्या अन्य व्यक्तियों की मानसिक अवस्थाओं अथवा आन्तरिक अनुभूतियों के ज्ञान से सम्बन्धित है । अन्य लोगों की सुख-दुख इत्यादि की अनुभूतियों का ज्ञान कैसे होता है ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जा सकता है कि अन्य आत्माओ की आन्तरिक अवस्थाओं का ज्ञान उनके भौतिक लक्षणों, शारीरिक हाव-भाव इत्यादि को देख करके अनुमान से प्राप्त किया जा सकता है । किन्तु संशयवादियों का आक्षेप यह है - कोई व्यक्ति अपनी मानसिक अवस्थाओं (सुख, दुःख, दर्द इत्यादि) को सफलतापूर्वक छिपा सकता है । इसके अतिरिक्त अपनी वास्तविक मानसिक अवस्था से भिन्न मानसिक अवस्था में होने का झूटा वहाना भी किया जा सकता है । जैसे नाक-भौंह सिकोड़ना, कराहना, चीखना इत्यादि सम्भव है । संशयवादी की इस युक्ति से यह सिद्ध होता है कि दूसरी आत्माओं का अस्तित्व है, किन्तु मैं निश्चयतापूर्वक उनकी मानसिक अवस्थाओं को नहीं जान सकता हूँ । किन्तु समस्या का स्वरूप इससे अधिक गहन और व्यापक है । प्रश्न उठता है कि इस बात का क्या प्रमाण है कि अन्य आत्माएं मेरे समान चेतन प्राणी हैं ? क्या दूसरे लोग कम्प्यूटर के समान नहीं हैं ? अन्य लोगों के समान कम्प्यूटर भी अनेक कार्यों का सफलतापूर्वक सम्पादन करता है । मुझे यह अनुभव नहीं होता है कि कम्प्यूटर जड़ है अथवा चेतन । अन्य लोग मेरे समान चेतन प्राणी हैं, वे मेरे समान सुख-दुख इत्यादि का अनुभव करते हैं, ऐसा दावा किस आधार पर किया जाय ? क्या मैं जिन व्यक्तियों के साथ प्रेम, मित्रता, शत्रुता, घृणा, वार्तालाप इत्यादि करता हूँ, उनमें कोई आन्तरिक जीवन है

अथवा नहीं ? कहीं वे यंत्रवत् व्यवहार युक्त तथा मानसिक अवस्था से रहित वस्तुएं तो नहीं हैं । इस समस्या पर समकालीन दार्शनिकों ने पर्याप्त चिन्तन किया है । यहां पर कुछ प्रमुख सिद्धान्तों का संक्षेप में उल्लेख किया जाता है । अन्य आत्माओं के ज्ञान के सम्बन्ध में परम्परागत रूप से सबसे अधिक प्रचलित सिद्धान्त सादृश्यानुमान पर आधारित युक्ति है ।

1. सादृश्यानुमान पर आधारित युक्ति

(Argument from Analogy)

यह कहना कि 'मैं कष्ट में हूँ' ऐसी अनुभूति का निर्देश करना है, जिसका अनुभव केवल मैं करता हूँ । यदि मेरा कथन सत्य है तो यह सम्भव है कि मैं अपने कष्ट को व्यक्त करने वाले कुछ वाह्य शारीरिक लक्षणों को प्रदर्शित करूँ, अर्थात अपने निजी अनुभवों के आधार पर मैं यह सामान्य प्राक्कल्पना करता हूँ कि कतिपय शारीरिक लक्षण (व्यवहार) कुछ अनुभूतियों के साथ-साथ पाये जाते हैं । इसी तरह जव मैं निरीक्षण करता हूँ कि कोई दूसरा व्यक्ति मेरे शारीरिक लक्षणों के समान ही वाह्य शारीरिक हाव-भाव व्यक्त कर रहा है तो मैं यह अनुमान करने में समर्थ हो जाता हूं कि अन्य व्यक्ति भी अमुक प्रकार के (मेरे अनुभवों के समान) अनुभवों की मानसिक अवस्था में होंगे । इसे एक उदाहरण की सहायता से समझना आसान होगा - जव-जब मेरे दाँत में असह्य दर्द होता है, तब-तब एक विशेष प्रकार की चिल्लाहट, छटपटाहट, नाक, भौंह, ललाट इत्यादि का सिकोड़ना, चेहरे का उदास हो जाना आदि व्यवहार दाँत के दर्द के साथ-साथ पाये जाते हैं । जव कभी मैं अन्य लोगों को विशेष परिस्थितियों में इसी प्रकार के विशेष शारीरिक लक्षणों को व्यक्त करते हुए देखता हूं तो मैं ऐसा अनुमान करता हूं कि दूसरे लोग भी इसी प्रकार के (मेरे जैसे) दर्द का अनुभव करते होंगे ।

इस युक्ति से स्पष्ट है कि यदि मैं किसी दूसरे व्यक्ति के विषय में यह कहता हूँ कि उसके दाँत में दर्द है, तो मेरा कथन उसके शारीरिक हाव-भाव पर आधारित होता है । जब मैं अपनी अनुभूतियों के विषय में कथन करता हूं तो इसका अर्थ अन्य लोगो के लिए वह नहीं होता है, इसका जो अर्थ मेरे लिए है । मेरे सन्दर्भ में यह कथन (मुझे दर्द है) कुछ आन्तरिक अनुभूतियों के घटित होने की रिपोर्ट देता है । अन्य लोगों के लिए यह कथन मेरी शारीरिक दशा से सम्बन्धित है । अन्य लोगों की अनुभूतियां मेरी अनुभूतियां नहीं हैं । इसी प्रकार मेरी अनुभूतियों का अनुभव अन्य व्यक्तियों को नहीं हो सकता है । यह कहना कि मै जानता हूँ कि आपके दाँत में दर्द है, आपके दाँत के दर्द का अनुभव करना नहीं है । 'जानना' का अर्थ अन्य व्यक्तियों के सम्बन्ध में साक्षात् अनुभव करना नहीं है । यहां पर अन्य व्यक्त्यिों के दर्द का ज्ञान आगमनात्मक अनुमान पर आधारित होता है। किन्तु मुझे अपने दर्द के बारे में अनुमान करने की आवश्यकता नहीं है। 'मेरा दर्द का अनुभव करना' ही यह कहने के लिए पर्याप्त है कि मुझे दर्द है। अनुमान के द्वारा अन्य व्यक्तियों के दर्द का ज्ञान प्राप्त करना अन्य साधारण अनुमानों से भिन्न है । अन्य अनुमानों से प्राप्त ज्ञान का सत्यापन साक्षात् निरीक्षण करके किया जा सकता है । जैसे, जब-जब भीषण सूखा पड़ता है, तब-तब वस्तुओं के मूल्य में वृद्धि होती है । इसका सत्यापन प्रत्यक्ष रूप से निरीक्षण-परीक्षण के द्वारा किया जा सकता है । किन्तु मै दूसरे व्यक्त्यिों की आन्तरिक अनुभूतियों और मानसिक अवस्थाओं का ज्ञान साक्षात् निरीक्षण करके नहीं प्राप्त कर सकता हूँ ।

एयर के अनुसार दूसरे लोग भी मेरे समान चेतन प्राणी है, इस विश्वास के लिए किसी परीक्षण (Experiment) की आवश्यकता नहीं प्रतीत होती है। उनकी चेतना, उनके आचार-व्यवहार, कार्य-पद्धति और

उनकी भाषा के प्रयोग के द्वारा अभिव्यक्त होती है । अन्य लोगों की स्नायविक संरचना (Nervous System) शारीरिक आकार-प्रकार इत्यादि भले ही मुझसे भिन्न हों, किन्तु उसके आधार पर यह नहीं कहा जा सकता है कि वे चेतन प्राणी नहीं है । यह कहना गलत होगा कि अन्य लोगों को चेतन तभी कहा जाय, जब अनकी स्नायविक संरचना ठीक मेरे जैसी हो । अन्य व्यक्तियों के विचारों और अनुभूतियों की अभिव्यक्ति इसके लिए सर्वोत्तम प्रमाण है कि वे चेतन प्राणी हैं । मेरी और अन्य लोगों की शरीरक्रियात्मक (Physiological) समानताएं गौण महत्व रखती हैं ।[1] किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि मेरे और अन्य लोगों के बीच सादृश्य अन्य आत्माओं के अस्तित्व में मेरे विश्वास का आधार नहीं है । एयर के कहने के तात्पर्य यह है कि मेरा और अन्य लोगों का अभिन्न होना अथवा हू-ब-हू एक दूसरे के सदृश होना अन्य व्यक्तियों के अस्तित्व में विश्वास करने के लिए अनिवार्य नहीं है ।

सादृश्यानुमान पर आधारित युक्ति समीक्षा

सादृश्यानुमान पर आधारित युक्ति के विरोध में कहा जाता है कि यह युक्ति एक निर्बल आगमन (Weak induction) पर निर्भर है । इसमें एक व्यक्ति (मेरे) के उदाहरण के द्वारा अन्य व्यक्तियों की आन्तरिक अवस्थाओं के ज्ञान का दावा किया जाता है । यह कहना कि चूँकि मेरे व्यक्तिगत व्यवहार में दर्द के अनुभव के साथ-साथ एक विशेष प्रकार का परिवर्तन होता है, इसलिए दूसरों के द्वारा व्यक्त किये गये विशेष प्रकार के व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि दूसरे व्यक्तियों को भी मेरे समान दर्द होगा, कोई सबल प्रमाण नहीं है । इस प्रकार के सादृश्योद्‌गमन की सत्यता की प्रायिकता बहुत ही कम होती है ।

1- *द प्राब्लेम आव नॉलेजए* पृ. 221–22 .

किन्तु यह आपत्ति इस युक्ति का खण्डन करने के लिए पर्याप्त नहीं है। वास्तव में सादृश्यानुमान पर आधारित युक्ति एक उदाहरण की गणना पर आधारित नहीं है। यह उन अनेक उदाहरणों के निरीक्षण पर आधारित है, जिनमें वक्ता (मैं) ने अनेक व्यक्तियों केव्यवहार का निरीक्षणकरके यह अनुमान किया कि वे लोग कष्ट में थे। ऐसा प्रतीत होता है कि इस युक्ति के आलोचक यह मान लेते है : 'यह तथ्य कि मेरे समस्त आगमनात्मक प्रमाण मुझसे सम्बन्धित हैं, इस आगमनात्मक युक्ति को पराजित कर देता है।' वस्तुतः इस युक्ति का खण्डन करने के लिए कोई मूर्त (ठोस) हेतु अथवा निष्पक्ष उदाहरण (Fair Sample) होना चाहिए, जिसके आधार पर यह सिद्ध किया जा सके कि मेरी मानसिक अवस्था और उसका सहचर शारीरिक व्यवहार (विशेष प्रकार की भौतिक अवस्था) सामान्य लोगों की विशेषताएं नही हैं।[2] यदि इस आपत्ति को सादृश्यानुमान पर आधारित युक्ति को पराजित करने वाला माना जाय तो इस अधार पर किसी भी आगमनात्मक अनुमान को पराजित किया जा सकता है क्योकिं आगमनात्मक प्रमाण और सत्य के मध्य कुछ न कुछ अन्तराल अवश्य पाया जाता है। इस युक्ति के विरूद्ध परम्परागत आक्षेप आगमन की गलत अवधारण पर आधारित है।

नार्मन मेलकोम (N. Malcolm) ने सादृश्यानुमान पर आधारित युक्ति का खण्डन करते हुए अपने पक्ष के समर्थन में विटगेन्श्टाइन के *'फिलॉसोफिकल इनवेस्टीगेशन्स'* का उल्लेख किया है।[3] उसके अनुसार आगमनात्मक तर्क (Inductive Reason) के आधार पर किसी कथन में विश्वास करने के लिए पहले कथन को सार्थक होना चाहिए। इसके आधार

---

2. *नॉलेज एन्ड जस्टीफिकेशन*, पृ. 250—51 .

3. ***नॉलेज आव अदर माइन्ड्स*, मेलकोम, देखिये जर्नल आव फिलॉसोफी, अंक 60, पृ. 169—78 .**

पर कहा जा सकता है - 'अमुक व्यक्ति कष्ट में है' इस कथन में विश्वास करने के लिए वक्ता (मेरे) के पास एक 'तार्किक हेतु' (Logical Reason) की आवश्यकता है । 'अमुक व्यक्ति कष्ट में है' इस कथन की सार्थकता का निरूपण करने के लिए (इस कथन में विश्वास करने के निमित्त) आवश्यक प्रमार्णाकरण की शर्तों का स्पर्ष्टाकरण करना चाहिये । इस कथन की सार्थकता किस प्रमाण के आधार पर निर्धारित की जाय, यह बताना आवश्यक है । मेलकोम के अनुसार, यदि व्यक्तियों की आन्तरिक अनुभूतियों (मानसिक अवस्थाओं) को जानने के लिए सादृश्यानुमान ही एकमात्र तरीका है, तो हमारे विश्वासों (अमुक व्यकित कष्ट में है) का आधार केवल आगमनात्मक तर्क होगा । यदि इस कथन में विश्वास करने के लिए कोई 'तार्किक प्रमाण' न हो तो यह कथन अर्थ-हीन (Meaningless) हो जायेगा । अतः यह युक्ति अन्य आत्माओं की मानसिक अवस्थाओं के ज्ञान की व्याख्या करने में असफल हो जाती है ।

मेलकोम के चिन्तन में यह पूर्वमान्यता निहित है कि 'अमुक व्यक्ति (व्यक्ति विशेष) कष्ट में है' इस कथन में विश्वास करने के लिए दिया गया आगमनात्मक प्रमाण 'तार्किक हेतु' (Logical Reason) और 'पर्याप्त हेतु' दोनों नहीं हो सकता है । आगमनात्मक तर्क के द्वारा या तो यह निर्दिष्ट किया जा सकता है कि **(1) कोई व्यक्ति विशेष कष्ट में होने पर एक विशेष प्रकार का व्यवहार करता है अथवा (2) किसी व्यक्ति के कष्ट में होने पर एक** विशेष तरीके से व्यवहार करने का निर्देश देने के साथ-साथ उन सभी प्रमाणों को भी निर्दिष्ट किया जा सकता है जिनके आधार पर यह विश्वास किया जाता है कि जो लोग अमुक-अमुक परिस्थितियों में एक विशेष प्रकार का व्यवहार करते हैं, वे सभी कष्ट (कष्ट की मानसिक अवस्था) में होंगे । इससे स्पष्ट है कि आगमनात्मक तर्क के द्वारा इन दोनों (1) तथा (2) में उल्लिखित दशाओं का निर्देश किया जा

सकता है। इनमें से प्रथम उपवाक्य एक 'आपातिक तर्क' है (यह केवल एक व्यक्ति विशेष के व्यवहार पर आधारित है), जबकि द्वितीय उपवाक्य 'तार्किक हेतु' है (क्योंकि यह व्यक्ति विशेष के साथ-साथ अन्य लोगों से सम्बन्धित सभी प्रमाणों पर आधारित है।) अतः मेलकोम के मत से पूरी तरह सहमत होना कठिन है ।

यह उल्लेखनीय है कि अपनी निजी अनुभूतियों के ज्ञान के लिए हम किसी आगमनात्मक तर्क का प्रयोग नहीं करते हैं । किन्तु अपने से भिन्न अन्य आत्माओं की मानसिक अवस्थाओं के लिए आगमनात्मक तर्क ही एकमात्र प्रमाण है । अधिकांश आलोचक आगमनात्मक नियमों की सार्वभौमिक वैधता को नहीं स्वीकार करते हैं । बहुत से ऐसे संप्रत्यय हैं, जिनके सन्दर्भ में आगमनात्मक नियम नहीं लागू होते हैं ।[4] सभी आगमनात्मक तर्कों को प्रमाणित करने के लिए पूर्णतः उपयुक्त बौद्धिक आधार नहीं हो सकता है । यह कहना कि हमारा अन्य आत्माओं का ज्ञान आगमनात्मक प्रमाण पर आधारित है, एक प्रकार से हमारी मानसिक अवस्थाओं के विश्लेषण का प्रस्ताव है । साम्यानुमानिक युक्ति अन्य लोगों की मानसिक अवस्थाओं का एक विवरण अवश्य प्रस्तुत करती है, किन्तु उसकी पूर्ण व्याख्या करने में असमर्थ है । संशयवादी इस युक्ति से सन्तुष्ट नहीं हो सकता है। संशयवादियों के द्वारा आगमनात्मक तर्क के विरूद्ध उठायी गयी आपत्तियां यहां पर भी लागू होती हैं । अन्य व्यक्तियों की मानसिक अवस्थाओं और उनकी बाह्य अभिव्यक्तियों के बीच सम्बन्ध का ज्ञान हमारे सीमित अनुभवों पर आधारित होता है । यदि अन्य आत्माओं की आन्तरिक अनुभूतियों के ज्ञान का एकामात्र साधन उनके दर्द, दुख-सुख इत्यादि का मेरे द्वारा अनुभव किया जाना है, तो इस शर्त की पूर्ति नहीं हो सकती है । **इस सन्दर्भ में एयर का यह मत उल्लेखनीय है कि किसी व्यक्ति के अमुक समय, दिनांक, वर्ष इत्यादि में जन्म लेने को आकस्मिक कहा जा सकता है ।**

---

4 -उदाहरण के लिए नेलसन गुड मैन के द्वारा निर्दिष्ट हरिनील या ग्रू (Grue) तथा ब्लीन (Bleen) को लिया जा सकता है । गुडमैन इन्हें प्रक्षेपपीय नही मानता ।

किन्तु एक व्यक्ति का दूसरा व्यक्ति न होना आकस्मिक नहीं है। कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों के समान भले ही हो, किन्तु वह अन्य लोगों से अनन्य नहीं हो सकता है हमारा अन्य व्यक्तियों की मानसिक अवस्थाओं का अनुभव करने मे असमर्थ होने का कारण यह है कि हम लोग पृथक-पृथक व्यक्ति हैं।[5] इससे स्पष्ट है कि संशयवादी अन्य आत्माओं की मानसिक अवस्थाओं और अनुभूतियों के ज्ञान के लिए असम्भव मानदण्डों की माँग करता है।

कुछ समकालीन पाश्चात्य दार्शनिक परम्परागत सम्यानुमान पर आधारित युक्ति (Argument from Analogy) से सन्तुष्ट नहीं है। वे अन्य आत्माओं के ज्ञान के लिए इस युक्ति के विकल्प के रूप में अन्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करते हैं। इन वैकल्पिक सिद्धान्तों का मूल्यांकन करना उचित होगा।

2. व्यवहारवादी सिद्धान्त

(The Behaviourist Theory)

व्यवहारवाद बीसवीं शताब्दी की एक प्रमुख विचारधारा है। इसके प्रति मनोवैज्ञानिकों का विशेष आकर्षण रहा है। सुव्यवस्थित व्यवहारवाद (The Methodological Behaviourism) मुख्य रूप से मनोवैज्ञानिक सिद्धान्तों एवं प्रक्रियाओं के द्वारा प्रेक्षणीय व्यवहार के मूल्यांकन एवं निरूपण से सम्बन्धित है। दार्शनिक दृष्टि से तत्वमीमांसीय व्यवहारवाद (Metaphysical Behaviourism) अधिक महत्वपूर्ण है। इसके अन्तर्गत चेतन (मानसिक) क्रियाओं की व्याख्या शारीरिक व्यवहार के आधार पर की जाती है। जब तक बाह्य व्यवहार और मानसिक अवस्था में अनिवार्य सम्बन्ध न माना जाय तब तक सादृश्यानुमान पर आधारित युक्ति संशयवाद के आक्षेपों से मुक्त नहीं हो सकती है। व्यवहारवादियों के अनुसार, अन्य

5- द प्राब्लेम आव् नालेज, पृ. 216.

लोगों की मानसिक अवस्था से सम्बन्धित कथन उनकी भौतिक अवस्था (व्यवहार) से सम्बन्धित कथनों के तर्कतः समतुल्य होते हैं।

इस सिद्धान्त के अनुसार मानसिक शब्द सार्थक होने के साथ-साथ सत्य या असत्य भी होते हैं । व्यवहारवादी दार्शनिक **'व्यवहार करने की मनोवृत्ति'** (Disposition to behave) के संप्रत्यय को प्रयोग करते हैं। उनके अनुसार मानसिक क्रियाओं को व्यक्त करने वाले वाक्य सत्य होते हैं, भले ही वह व्यक्ति उस समय एक विशेष तरीके से व्यवहार न कर रहा हो । कोई व्यक्ति सिर-दर्द से पीड़ित है अथवा नहीं, इसका निर्धारण उपयुक्त परिस्थितियों में व्यक्ति के व्यवहार का निरीक्षण करके ही किया जा सकता है । व्यवहारवादियों का दावा है कि अन्य लोगों के शारीरिक व्यवहार और मानसिक क्रियाएं (अवस्थाएं) तर्कतः एक-दूसरे को अनुलग्न करते हैं । यहां तक कि मानसिक अवस्थाओं से सम्बन्धित कथन और भौतिक अवस्थाओं से सबंधित कथन तर्कतः एक-दूसरे के समतुल्य होते हैं । इस प्रकार मानसिक कथनों का विश्लेषण भौतिक कथनों में किया जा सकता है ।6

किन्तु, व्यवहारवाद को स्वीकार करने में अनेक कठिनाइयाँ हैं । मानसिक क्रियाओं और शारीरिक व्यवहार को तर्कतः समुतल्य नहीं कहा जा सकता है । दर्द होने पर उसे छिपाया भी जा सकता है और दर्द न होने पर भी दर्द का झूठा बहाना करके दर्द के व्यवहार का प्रदर्शन भी किया जा सकता है । इससे स्पष्ट है कि मानसिक पदों का विश्लेषण वास्तविक व्यवहार के रूप में नहीं किया जा सकता है । यदि विचारों, अनुभूतियों, संकल्पों इत्यादि की व्याख्या व्यवहार के आधार पर न की जाय, बल्कि व्यवहार करने की एक मनोवृत्ति के रूप में की जाय, तो चेतन अवस्थाओं

6- ***नॉलेज एण्ड जस्टीफिकेशन,*** **जान. एल. पोलक, प्रिन्सटन यूनिर्विटी न्यूजर्सी, 1974, पृ. 254–55** .

का आरोपण करना विशिष्ट तरीके से व्यवहार करने की प्रवृत्ति का आरोपण करने के सदृश होगा । इस आधार पर कहा जा सकता है कि व्यवहारवाद तर्कसंगत है । किन्तु, इसके विरूद्ध भी यह आपत्ति लागू होती है कि मानसिक अवस्थाओं से भिन्न व्यवहार का प्रदर्शन संभव है । इसके अतिरिक्त कुछ व्यवहार अवोधगम्य (अज्ञेय), स्वाभाविक या स्वतः प्रवर्तित (नैसर्गिक) भी हो सकते हैं। इससे सिद्ध होता है कि व्यावहारिक मनोवृत्तियों को मानसिक (अवस्थाओं वाले) कथनों का सम्यक् विश्लेषण नहीं कहा जा सकता है । दूसरे शब्दों में, मानसिक अवस्थाओं की व्याख्या भौतिक अवस्थाओं के आधार पर नहीं की जा सकती है ।

उल्लेखनीय है कि विश्लेषणात्मक व्यवहारवाद का एक रूप गिलवर्ट राइल के **'दि कन्सैप्ट आव माइण्ड'** में भी मिलता है । राइल के अनुसार परम्परागत दार्शनिकों (विशेष रूप से रेने डेकार्ट) ने मन और शरीर को दो परस्पर विरोधी इकाइयां मानकर गम्भीर भूल की है। उनके अनुसार, द्वैतवाद एक मिथक है । इसे व्यंग्यात्मक भाषा में मशीन में प्रेत का पूर्वाग्रह (Dogma of the Ghost in the machine) कहा गया है । इसके अन्तर्गत, 'मानसिक जीवन' के तथ्यों को एक कोटि में रखा जाता है, जब कि वस्तुतः वे किसी अन्य कोटि के अन्तर्गत नहीं आते हैं ।[7] राइल ने इसे **'अधिकृत सिद्धान्त'** कहा है । उसके अनुसार, 'मानसिक क्रियाओं' और 'शारीरिक व्यवहार' में कोई भेद नहीं है । मानसिक और शारीरिक क्रियाओं के द्वैत की अवधारणा कोरी कल्पना है। यह सिद्धान्त भ्रामक है कि शारीरिक क्रियाओं के अतिरिक्त कोई मानसिक जीवन है। 'अधिकृत सिद्धान्त' के अनुयायियों ने मानसिक क्रियाओं को मन रूपी रंगशाला में घटित होने वाली घटनाओं के रूप में स्वीकार किया । राइल इसे कोटिभ्रम

7- ***दि कन्सेप्ट आव माइण्ड*, जी. राइल, हचिन्सन, लन्दन, 1949, पृ. 16** ।

(Category mistake) कहता है। किसी व्यवहार को बौद्धिक कह करके हम केवल व्यवहार का वर्णन करते हैं। किसी व्यक्ति के आचार-व्यवहार के साथ किसी विशेष प्रवृत्ति को जोड़ने का अर्थ यह है कि उसके आचरण में एक नियमबद्धता है। मन कोई द्वितीय स्तर की रंगशाला नहीं है। यद्यपि राइल स्वयं को व्यवहारवादी नहीं कहता है, तथापि उसके सिद्धान्त में व्यवहारवाद की स्पष्ट छाप है। वस्तुतः समकालीन दर्शन में मन की व्याख्या व्यवहारवादी सिद्धान्त और उसके क्रमिक संशोधन के आधार पर की गयी है। 8

राइल के विश्लेषणात्मक व्यवहारवाद के विरूद्ध वे सभी आपत्तियों लागू होती हैं, जो सामान्यतः व्यवहारवाद के विरूद्ध उठायी गयी हैं। यह सिद्धान्त मन और शरीर के मिथ्या तादात्म्य पर आधारित है। मानव-मन में ऐसे विचार घटित हो सकते हैं जो व्यवहार में न प्रदर्शित हों अथवा वे पर्याप्त अन्तराल के वाद व्यवहार में प्रकट हों। क्रोध, प्रेम, ईर्ष्या, घृणा इत्यादि मनोभावों को व्यक्त करने वाले व्यवहार कभी-कभी दृश्य नहीं होते हैं तथापि उनके मानसिक अस्तित्व का निषेध नहीं किया जा सकता है। प्रश्न उठता है कि क्या दृश्य व्यवहार के अभाव में मानसिक भावों के अस्तित्व को न स्वीकार किया जाय ? राइल मन के अस्तित्व का निराकरण करता है। **जी. जे. वारनाक** के अनुसार 'दि कनसेप्ट ऑव माइण्ड' प्रथम दृष्टि में जितनी यथार्थ और मार्गदर्शक प्रतीत होती है, वास्तव में उतनी यथार्थ और मार्ग दर्शक नहीं है। राइल परम्परागत दार्शनिकों के सिद्धान्त पर 'कोटि भ्रम' का आरोपण तो करते हैं, किन्तु वे स्वयं यह सिद्ध नहीं करते हैं कि कौन सा भ्रामक (गलत) प्रत्यय मन पर लागू किया गया है। वे

11–*ब्रिटिश फिलॉसफी इन दि मिड सेन्चुरी*, सी. ए. मेंश, पृ. 106 ।

यह भी स्पष्ट नहीं कहते हैं कि किस उपयुक्त प्रत्यय को 'मन' पर लागू किया जाय ।[9]

किन्तु कुछ सन्दर्भों में व्यवहारवाद की उपयोगिता से इनकार नहीं किया जा सकता है । कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं, जिनमें व्यवहारवादी व्याख्या दर्द के उदाहरण की अपेक्षा अधिक न्यायोचित है । निराशा (Depresiion) का व्यवहारवादी विश्लेषण तर्कसंगत लगता है । निराशा, विषाद, ग्लानि इत्यादि मनोभावों की अभिव्यक्ति व्यक्ति के क्रिया-कलापों, व्यवहारों इत्यादि में होती है। किसी व्यक्ति के विषाद-ग्रस्त अथवा निराश होने का महत्वपूर्ण भाग यह है कि यह व्यक्ति किस प्रकार आचार तथा व्यवहार करता है, न कि वह कैसे अनुभव करता है । कुछ मानसिक अवस्थाएं व्यक्ति के वाह्य व्यवहार के अनुरूप होती हैं तथा कुछ व्यवहार मानसिक अवस्थाओं के अनुरूप होते हैं । उदाहरण के लिए, यदि कोई प्रत्याशी लोकसभा के चुनाव-प्रचार हेतु मतदाताओं के पास जाता है, तो उसका व्यवहार, चुनाव-प्रचार का तरीका, मतदाताओं को प्रभावित करने का प्रयास इत्यादि उस प्रत्याशी के चुनाव में विजय प्राप्त करने की महत्वाकांक्षा (मानसिक अवस्था) के अनुरूप है । इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि कम से कम कुछ मानसिक अवस्थाओं से सम्बन्धित कथन शारीरिक (भौतिक) व्यवहार की अवस्था वाले कथनों को अनुलग्न करते हैं । किन्तु केवल इससे समस्या का समाधान नहीं हो सकता है । मुख्य समस्या यह है कि क्या व्यावहारिक (भौतिक) अवस्था को व्यक्त करने वाले सभी कथन मानसिक या मनोवैज्ञानिक कथनों के तर्कतः अनुलग्न करते हैं ? मानसिक अवस्था और भौतिक अवस्था के बीच में तार्किक समतुल्यता को व्यक्त करना व्यवहारवादी के लिए सम्भव नहीं है । अतः व्यवहारवाद अन्य

---

9 - *इंगलिश फिलोसफी सिंस 1900*, **जी. जे. वारनाक, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस 1958, पृ. 96 ।**

आत्माओं की मानसिक अवस्थाओं के ज्ञान की संतोषजनक व्याख्या करने में असमर्थ है । दूसरे शब्दों में, किसी व्यक्ति के द्वारा व्यक्त किये गये सभी व्यवहार उसकी मानसिक अवस्था को व्यक्त करने के लिए अन्तिम अथवा निर्णायक हेतु नहीं हो सकते हैं ।

3. निकषमीमांसीय सिद्धान्त

(The Criteriological Theory)

हम यह स्पष्ट कर चुके हैं कि व्यवहारवादी सिद्धान्त सभी व्यवहारों और तदनुरूप मनःस्थितियों की व्याख्या करने में असफल हो जाता है । इस विफलता से प्रभावित होकर कुछ दार्शनिकों ने व्यवहार को अन्य लोगों की मानसिक अवस्था के ज्ञान के लिए अन्तिम या निर्णायक प्रमाण के रूप में नहीं स्वीकार किया है । वे 'व्यवहारवाद' के स्थान पर 'निकषमीमांसीय सिद्धान्त' का प्रतिपादन करते हैं । इस सिद्धान्त का उल्लेख **नोरमन मेंलकोम** ने 1958 ई. में **'अन्य आत्माओं का ज्ञान'** (Knowledge of other minds) में किया । मेलकोम इस सिद्धान्त का सम्बन्ध विटगेन्श्टाइन के 'फिलॉसोफिकल इनवेर्स्टीगेशन्स' से जोड़ता है, अर्थात इस सिद्धान्त के बीज परवर्ती विटगेन्श्टाइन में मिलते हैं । पी.एफ.स्ट्रासन 'इंडीविडुअल्स' (Individuals) में इस सिद्धान्त के लिए तर्क देता है । बाद में सिडनी शूमेकर ने 'सेल्फ नॉलेज एन्ड सेल्फ-आइडेन्टिटी' में इस सिद्धान्त का अनुमोदन किया । इन दार्शनिकों ने अन्य आत्माओं के ज्ञान के लिए 'तार्किक दृष्टि से पर्याप्त निकषों' (कसौटियों) (Logically adequate Criteria) की आवश्यकता पर बल दिया । अतः इसे 'निकषमीमांसीय सिद्धान्त' कहा जा सकता है ।

विटगेन्श्टाइहन के अनुसार उत्तम पुरूष (First Person) के संवेदनों (जैसे- दर्द) के लिए 'जानना' तथा 'निश्चित होना' पदों का प्रयोग तर्कसंगत नहीं है । मेरा 'अपना दर्द' एक नितान्त वैयक्तिक अनुभूति है। इसके लिए

एकमात्र प्रमाण **'मेरा दर्द का अनुभव करना'** है। दर्द की अनुभूति भले ही नितान्त वैयक्तिक हो, किन्तु 'दर्द' शब्द का अर्थ व्यक्तिगत भाषा (Private Language) से सम्बन्धित नहीं हैं। 'मेरे दांत में दर्द है' का सम्बन्ध मेरे दर्द के व्यवहार से है, जो सार्वजनिक रूपसे निरीक्षणीय है। अतः 'दर्द अथवा कष्ट' (Pain) का अर्थ व्यक्तिगत संवेदन नहीं है। अन्य व्यक्तियों के दर्द के आन्तरिक अनुभूति का निकष उनका दर्द से सम्बन्धित वाह्य व्यवहार है। किन्तु विटगेन्स्टाइन व्यवहारवादियों के इस सिद्धान्त को नही स्वीकार करता है -'दर्द की आन्तरिक अनुभूति' (मानसिक अवस्था) और 'दर्द का व्यवहार' दोनों तर्कतः अभिन्न होते हैं।' उसके अनुसार वास्तव में दर्द के न होने पर भी कोई व्यक्ति दर्द होने का व्यवहार व्यक्त कर सकता है। इसके विपरीत दर्द होने पर उसे छिपाना अर्थात दर्द का व्यवहार न करना भी सम्भव है। इससे सिद्ध होता है कि वाह्य व्यवहार को आन्तरिक अनुभूतियों (मानसिक अवस्था) के निकष के रूप में कुछ संदर्भो और परिस्थितियों के सापेक्ष रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है। मेरे लिए अन्य लोगों की मानसिक अवस्था का निकष उनका व्यवहार, उनकी भाषा और वे परिस्थितियाँ हैं, जिनमें वह व्यवहार (जैसे दर्द का व्यवहार) प्रदर्शित किया जाता है। किसी व्यक्ति का व्यवहार उसके दर्द में होने का निकष केवल तव हो सकता है, जव वह वास्तविक दर्द की मानसिक अवस्था में हो। विटगेन्स्टाइन आन्तरिक अवस्थाओं और अनुभूतियों के लिए वाह्य निकषों की आवश्यकता पर बल देता है। **10**

शारीरिक व्यवहार को दूसरों की मानसिक अवस्थाओं के ज्ञान के लिए पर्याप्त निकष के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है। शारीरिक

---

10 - "An inner process requires ouward criteria." ***फिलॉसोफिकल इनवेस्टीगेशन्स, अनुच्छेद 580*** ।

व्यवहार और मानसिक अवस्था (आन्तरिक अनुभूतियों) के बीच में आपातिक सम्वन्ध (Contingent Relation) ही हो सकता है। विटगेन्श्टाइन के कथन से स्पष्ट है कि कुछ मानसिक अवस्थाओं के लिए हमारे पास 'प्रथम दृष्टया हेतु' (Prima Facie Reasons) हो सकते हैं। किन्तु अनेक ऐसी मानसिक अवस्थाएं हैं, जिनके लिए 'प्रथम दृष्टया हेतु' (Prima Facie Reasons) का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है। दुर्घटना ग्रस्त होने के कारण घायल व्यक्ति का चीखना, सहायता की मांग करना, रक्त स्राव इत्यादि व्यवहार आपातिक हैं। यहां किसी प्रकार का सशय नहीं किया जा सकता है। वस्तुतः निकषर्मामांसीय सिद्धान्त के समर्थक भौतिक अवस्थाओं (शारीरिक व्यवहार) को 'प्रथम दृष्टया हेतु' (Prima Facie Reasons), के रूप में व्यवहृत करते हैं। यदि ये प्रथम दृष्टतया हेतु मानसिक अवस्थाओं की अन्तर्वस्तुओं से अभिन्न हों, तो इन्हें उन व्यक्तियों के सम्बन्ध में आरोपित नहीं किया जा सकता है जो शारीरिक दृष्टि से मुझसे (मेरे शरीर से) भिन्न हैं। यह आवश्यक नहीं है कि अन्य व्यक्तियों का शरीर मेरे ही शरीर जैसा हो। पुनष्च, शरीर रहित प्रेतात्माओं (Ghosts) का अस्तित्व तार्किक दृष्टि से असंगत नहीं है। जादूगरी की कला में कुशल (प्रवीण) व्यक्ति के शरीर से खून वहता हुआ दिखायी देता है। उसके शारीरिक व्यवहार से मानसिक अवस्था का आकलन करना सम्भव नहीं है। उसका चिल्लाना, मुँह-विकृतियाँ (Gramacing) इत्यादि शारीरिक व्यवहार उसकी भौतिक अवस्था के वास्तविक भाग या अंग नहीं हैं। यहां निहितार्थ यह है कि चिल्लाना, मुंह वनाना इत्यादि व्यवहार अन्य व्यक्तियों की दर्द की अनुभूति के लिए तार्किक प्रमाण (Logical Reasons) के अंग भले ही हों, किन्तु वे अनिवार्यतः भौतिक अवस्थाएं नहीं हैं। अतः यह मान्यता कि भौतिक अवस्थाएं मानसिक अवस्थाओं को जानने के लिए प्रथम दृष्टया हेतु हैं, आकस्मिक और प्रायिक है। कुछ समकालीन दार्शनिक इससे असहमत हैं कि हमें अन्य व्यक्तियों की मानसिक अवस्थाओं के ज्ञान के लिए अपनी मानसिक अवस्था से प्रारम्भ करना पड़ेगा। स्ट्रासन के अनुसार, 'तुम्हारे पास कोई मानसिक संप्रत्यय (P-Concept) तव तक नहीं हो सकता है, जव तक कि तुम्हें इसका

ज्ञान नहो कि इस मानसिक अवस्था को दूसरों के सम्बन्ध में कैसे आरोपित (Ascribe) या लागू किया जाय। इसके परिणामस्वरूप तुम अपनी मानसिक अवस्था (अथवा अपने से) प्रारम्भ नहीं कर सकते हो।'[11] किन्तु प्रश्न उठता है कि अन्य व्यक्तियों के शारीरिक व्यवहार से उनकी मानसिक अवस्था का ज्ञान कैसे संभव है? इस प्रश्न का एक ही उत्तर हो सकता है - मैं अपनी मानसिक अवस्थाओं और शारीरिक व्यवहारो के आधार पर दूसरों के शारीरिक व्यवहार और मानसिक अवस्था में 'प्रथम दृष्टया हेतु' (Prima Facie Reasons) की खोज करता हूं।' इससे स्पष्ट है कि मैं अपनी मानसिक अवस्था (आन्तरिक अनुभूतियों) और शारीरिक व्यवहार के आधार पर उसी के सदृश अन्य लोगों के व्यवहार को देख करके उनकी मानसिक अवस्थाओं का अनुमान करता हूँ। यह शारीरिक व्यवहार ही अन्य व्यक्तियों की मानसिक अवस्थाओं के ज्ञान के लिए एक निकष (Criterion) हो सकता है। यहां पर हम पुनः सादृश्यानुमान की ओर वापस लौट आते हैं। अन्य लोगों की मानसिक अवस्थाओं के ज्ञान के बारे में हमारे प्रमाण आपातिक होते हैं, इन्हें तार्किक हेतु (Logical Reasons) ही कहा जा सकता है, न कि पर्याप्त या 'निर्णायक हेतु'। वास्तव में समानताओं (Similarities) के आधार पर केवल प्रायिक अथवा सम्भाव्य (Probable) निष्कर्ष की प्राप्ति ही सम्भव है। अन्य व्यक्तियों की मानसिक अवस्थाओं के ज्ञान के लिए भौतिक विशेषताओं की समानता आगमनात्मक पद्धति से ही खोजी जा सकती है। इससे सिद्ध होता है कि अन्य आत्माओं के ज्ञान के लिए सादृश्यानुमान से स्वतन्त्र रूप में किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन नहीं किया जा सकता है।

---

11 - Strawson, P. F., *Individuals*, Methuen : London, 1959, P. 99-100.

अध्याय 5

आगमन की समस्या

आगमन की समस्या

आगमनात्मक अनुमान में विशिष्ट उदाहरणों से व्यापक नियमों की खोज की जाती है । अरस्तू के अनुसार विशेषों के द्वारा सामान्य का अनुमान करना ही आगमन हैं । आगमनात्मक अनुमान निगमनात्मक अनुमान के विपरीत ऊर्ध्वगामी होता है । अरस्तू ने आगमन के स्वरूप पर बहुत कम विचार किया है । आधुनिक युग में **फ्रांसिस बेकन** (1561-1626) तथा **जे.एस. मिल** ने आगमनात्मक तर्कशास्त्र को विशेष महत्व दिया । परम्परागत रूप से आगमन के तीन रूप पाये जाते हैं :

(क) पूर्ण आगमन - यदि किसी सामान्य नियम की स्थापना उसके अन्तर्गत आने वाले सभी विशेष उदाहरणों की गणना पर आधारित होती हैं, तो उसे पूर्ण आगमन कहा जाता है । अरस्तू ने इसी प्रक्रिया को आगमन की संज्ञा दिया था । इसके द्वारा प्राप्त निष्कर्ष तथ्यों की पूर्ण गणना पर आश्रित होने के कारण असंदिग्ध होते हैं ।

(ख) अपूर्ण आगमन - इसके अन्तर्गत सामान्य नियमों की स्थापना कुछ उदाहरणों की गणना पर आश्रित होती है । दूसरे शब्दों में, अपूर्ण आगमन विशेष उदाहरणों की आंशिक गणना पर आधरित होता है । मिल के अनुसार यह गणनाश्रित आगमन लोक-वयवहार के लिए भले ही उपयोगी हो, किन्तु विज्ञान के क्षेत्र में इससे कार्य नहीं चल सकता है । यह एक प्रकार का व्यवहारोपयोगी और कामचलाऊ विश्वास है । इससे स्पष्ट है कि पूर्ण और अपूर्ण आगमन गणनाश्रित आगमन हैं ।

(ग) वैज्ञानिक आगमन - मिल के अनुसार आगमन सर्वव्यापी प्रतिज्ञप्तियों (सामान्य नियमों) की खोज ओर सिद्धि प्रक्रिया है। इसके अन्तर्गत यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि जो बात किसी वर्ग के कुछ सदस्यों के बारे में सत्य हैं, उसे पूरे वर्ग के बारे में, अर्थात वर्ग के सभी सदस्यों के बारे में लागू किया जा सकता है । आगमन की मान्यता के

अनुसार विशिष्ट तथ्यों के द्वारा नियमों का अनुमान निश्चायक रूप में किया जा सकता है। आधुनिक युग में आगमनात्मक पद्धति का प्रयोग विज्ञान के क्षेत्र में किया गया। आगमनिकतावादियों ने इसे वैज्ञानिक अनुसंधान का प्रमुख आधार माना। आगमनात्मक अनुमान 'प्रकृति की एकरूपता' (Uniformity of nature) और कार्य-कारण नियम (Law of causation) पर आधारित होता है। आगमनात्मक सामान्यीकरण की एक प्रमुख विशेषता आगमनात्मक छलांग (Inductive leap) है। आगमनात्मक छलांग से तात्पर्य कुछ निरीक्षित उदाहरणों के द्वारा अनिरीक्षित उदाहरणों की ओर अग्रसर होना अथवा विशेष तथ्यों के आधार पर अधिक व्यापक नियम की ओर अग्रसर होना है। मिल ने वैज्ञानिक आगमन को अन्य आगमनों (जैसे - पूर्ण आगमन, साम्यानुमान इत्यादि) से पृथक माना है।

इससे स्पष्ट है कि प्रकृति की एकरूपता और कारण-कार्य नियम को आगमन का आकारगत आधार माना गया है। आगमन के अन्तर्गत विशेष-विशेष तथ्यों में अन्तर्निहित अथवा उन्हें अनुशासित करने वाले सामान्य नियमों की खोज की जाती है। ये नियम काल्पनिक अथवा राद्धान्तिक (मनमाने) नहीं होते हैं। हम उन्हें निरीक्षण और परीक्षण की प्रक्रिया के द्वारा प्राप्त करते हैं। यदि प्रकृति में एक रूपता न हो अर्थात प्राकृतिक नियम स्वेच्छाचारी हों तो कोई तर्कसंगत और विश्वसनीय निष्कर्ष नहीं प्राप्त किया जा सकता है। प्रकृति की एकरूपता का यह अर्थ है कि प्रकृति समान परिस्थितियों में समान कार्य करती है। इस प्रकार प्रकृति की एकरूपता (Uniformity of Nature) को आगमनात्मक प्रमाणीकरण का आधार माना गया है। कारण-कार्य नियम और प्रकृति की एकरूपता में क्या सम्बन्ध है? यह विवादास्पद है। जे.एस. मिल और बेन जैसे तर्कशास्त्री कारण कार्य नियम को प्रकृति को प्रकृति की एकरूपता का एक अंग मानते हैं। 'प्रत्येक कार्य का एक कारण होता है, और 'उसी

परिस्थिति में उसी कारण से वही कार्य होगा' यह प्रकृति की एकरूपता के अन्तर्गत आ जाता है किन्तु सिगवर्ट और बोसाके 'कारणता-नियम' और 'प्रकृति की एकरूपता' को भिन्न-भिन्न मानते हैं । इनमें से कौन-सा सिद्धान्त अधिक तर्कसंगत है ? इस प्रश्न का उत्तर देना अथवा इस विवाद में उलझना वर्तमान समस्या के लिए प्रासंगिक नहीं है । प्रकृति की एकरूपता और कारण-कार्य नियम दोनों के परिप्रेक्ष्य में समस्या का स्वरूप एक ही है ।

1. समस्या का स्वरूप - हमारा विश्वास है कि आग जलाती है, पृथ्वी में गुरुत्वाकर्षण शक्ति है इत्यादि सामान्य नियम हैं । यदि पूछा जाय कि किस प्रमाणके आधार पर कहा जा सकता है कि आग कल भी जलायेगी, सूर्य कल अथवा भविष्य में इसी प्रकार प्रतिदिन निकलता रहेगा, कोई वस्तु ऊपर फेंकने पर भविष्य में भी पृथ्वी पर पुनः गिरेगी ? इस प्रश्न का एक स्वाभाविक और सरल उत्तर यह है- 'ऐसा अतीत में हमेशा होता रहा है अथवा अतीत (Past) से लेकर वर्तमान-काल तक ऐसा अनवरत रूप से होता चला आ रहा है । अतः 'भविष्य (Future) में भी ऐसा होगा,' हम यह प्रत्याशा करते हैं स्पष्ट है कि इस उत्तर का आधार प्रकृति की एकरूपता है । किन्तु समस्या का स्वरूप कहीं अधिक जटिल है। प्रश्न उठता है कि किस प्रमाण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि प्रकृति जिस प्रकार अतीत (Past) में कार्य करती रही है, ठीक उसी तरह भविष्य (Future) में भी उसके नियम लागू होगें? अर्थात् अतीतकाल की एकरूपता के आधार पर यह कैसे कहा जा सकता है कि भविष्य अतीत के समान होगा ? सामान्य नियमों और तर्कवाक्यों में विश्वास का आधार आगमन है । निगमनात्मक तर्कशास्त्र में सामान्य तर्कवाक्यों को एक पूर्वमान्यता के रूप में स्वीकार किया जाता है । आगमन अनुभव पर आधरित होता है । प्रश्न उठता है कि विशेष तथ्यों के निरीक्षण-परीक्षण से

हम किसी सर्वव्यापी नियम का निर्धारण कैसे कर सकते हैं ? यही आगमन की प्रमुख समस्या है । यह समस्या मनोवैज्ञानिक और तार्किक दोनों पहलुओं से सम्बन्धित है । मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी सर्वव्यापी तर्कवाक्य की सत्यता को उसके अन्तर्गत आने वाले प्रत्येक उदाहरण की सत्यता का बिना परीक्षण किये ही स्वीकार किया जा सकता है । हम ऐसे अनेक कथनों में बिना पर्याप्त प्रमाण के विश्वास कर लेते हैं । किन्तु समस्या का मनोवैज्ञानिक समाधान ज्ञानमीमांसीय दृष्टि से महत्वपूर्ण नहीं है । समस्या का स्वरूप मनोवैज्ञानिक नहीं, बल्कि तार्किक हैं अतः उसके तार्किक हल की मांग की गयी है । ह्यूम ने समस्या के मनोवैज्ञानिक समाधान को स्वीकार किया है । किन्तु वह उसके तार्किक समाधान से इनकार करता है ।[1]

ह्यूम ने प्रत्येक आगमनात्मक निष्कर्ष की सत्यता पर संशय व्यक्त किया । यहां तक कि आगमनात्मक सिद्धान्तों और निष्कर्ष की प्रायिकता भी संशयात्मक है। अनुभव पर आधारित निरीक्षणों के सम्बन्ध में भ्रामकता और भूलों की सम्भावना बनी रहती है । अतः हम इन्द्रियानुभविक ज्ञान के विषय में स्वप्नों और विभ्रमों से अधिक निश्चित नहीं हो सकते हैं। ह्यूम स्वीकार करता है कि सत्य आधार वाक्यों से सत्य निष्कर्ष की प्राप्ति हो सकती है। किन्तु ह्यूम इसे (सत्य आधारवाक्यों से सत्य निष्कर्ष की प्राप्ति) निगमन का व्यापार मानता है । आगमन का कार्य इससे भिन्न है । उसका कार्य दिये हुए सत्य आधार वाक्यों के द्वारा प्रायिक निष्कर्ष की स्थापना करना है ।

ह्यूम के अनुसार आनन्तर्य नियम को सार्वभौमिकता के प्रमाण के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता है । ऐसा सम्भव है कि आगामी घटना सार्वभौमिक सम्बन्ध को अप्रामाणिक सिद्ध कर दे । कुछ विशेष तथ्यों के

1- प्राब्लेम आव जस्टीफाइंग इनडक्टिव इनफरेन्स, (देखिये–एसेज इन एनैलिसिस), (संपादक) एलिस सम्ब्रोस, लन्दन 1966, पृ 1982–85 .

आधार पर किसी सामान्य नियम की स्थापना करना अविचारित सामान्यीकरण-दोष (Fallacy of Hasty Generalisation) होगा । रसेल के अनुसार ह्यूम का दर्शन अठारहवीं शताब्दी के तार्किक औचित्य के दिवालियापन का प्रतिनिधित्व करता है और इसलिए इसकी खोज करना महत्वपूर्ण है कि क्या अनुभववादी दर्शन के अन्तर्गत ह्यूम की समस्या का कोई उत्तर दिया जा सकता है ? यदि इसका (ह्यूम की समस्या का) कोई उत्तर संभव न हो तो समझदारी अर्थात विवेकशीलता और अविवेकशीलता के बीच में कोई बौद्धिक अन्तर नहीं किया जा सकता है । रसेल यह स्वीकार करता है कि यदि आगमन-सिद्धान्त को अस्वीकार कर दिया जाय, तो विशेष तथ्यों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य वैज्ञानिक नियमों को प्राप्त करना दोषपूर्ण होगा और ह्यूम के संशयवाद से कोई अनुभववादी नहीं बच सकता है ।[2]

ह्यूम के समान रसेल ने भी आगमन के आधार पर विश्वासों के तार्किक प्रमाणीकरण पर संशय व्यक्त किया । वह कहता है - या तो आगमनात्मक नियमों की आन्तरिक वैधता अथवा स्वतः प्रामाणिकता को स्वीकार किया जाय अथवा भविष्य के विषय में प्रमाणीकरण की प्रत्याशाओं को भूल जाओ ।[3] स्पष्ट है कि आगमन की आन्तरिक प्रामाणिकता को नहीं स्वीकार किया जा सकता हैं । आगमन की भविष्य में प्रामाणिकता का कोई तार्किक आधार नहीं हैं रसेल के अनुसार हम आगमनात्मक निष्कर्षों के पक्ष में कुछ हेतुओं (कारणों) की खोज करते हैं । किन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि हम भविष्य के विषय में अपनी प्रत्याशा की पूर्ति के लिए कोई साक्ष्य (Proof) चाहते हैं । वास्तव में रसेल 'सूर्य कल उदित होगा' जैसे

2- ए हिस्ट्री आव वेस्टर्न फिलॉसोफी, रसेल पृ. 698 तथा कार्ल आर पापर द्वारा 'आबजेक्टिव नॉलेज' में उद्धृत पृ 5 .

3 - प्राब्लेम आव फिलोसोफी, रसेल, पृ. 38.

विश्वास के लिए तार्किक प्रमाण की मांग करता है । इस प्रकार के विश्वास सामान्य बुद्धि (Common-Sense) पर आधारित होते हैं । उनका अर्थक्रियावादी (Pragmatic) मूल्य भले ही हो, किन्तु उनकी पुष्टि तार्किक आधार पर नहीं की जा सकती है ।

आगमनात्मक प्रमाणीकरण से सम्बन्धित एक समस्या यह है कि आगमनात्मक अनुमान में आधारवाक्य अपने निष्कर्ष को प्रायिक (Probable) बनाते हैं अथवा नहीं ? इस प्रश्न का सार्थक उत्तर एक उन्य प्रश्न से जुड़ा है - क्या समस्त आगमनात्मक निष्कर्ष तर्कसंगत होते हैं? इस प्रश्न का उत्तर सरलतापूर्वक नहीं दिया जा सकता है । कुछ आगमनात्मक निष्कर्षों के लिए प्रमाण पर्याप्त नहीं होते हैं । ऐसे प्रमाण केवल विश्वासों के प्रमाणीकरण की गारन्टी ऊपरी तौर (सतही) पर देते हैं। वे विश्वासों की सत्यता की गारन्टी नहीं प्रदान करते हैं ।

कुछ दार्शनिकों के अनुसार आगमन की समस्या कोई समस्या ही नहीं है । यह एक समस्याभास (Pseudo Problem) मात्र है । जगत के विविध तथ्यों के सम्बन्ध में न्यायोचित अनुमान करने के लिए आगमनात्मक नियम उपकरणस्वरूप हैं । आगमन को प्रमाणित करने का प्रयास ही गलत है और इसलिए इसे त्याग देना चाहिए । आगमन के अन्तर्गत किसी विशेष तथ्य, घटना, नियम इत्यादि के प्रमाणीकरण का औचित्य हो सकता है । किन्तु सामान्य रूप से स्वतः आगमन के प्रमाणीकरण से सम्बन्धित प्रश्न न्यायोचित नहीं हैं । किसी देश के संविधान के विषय में यह प्रश्न करना कि अमुक संविधान विधि-सम्मत है अथवा नहीं, सार्थक नहीं होगा । उस संविधान के अन्तर्गत किसी अधिनियम विशेष की वैधानिकता के विषय में प्रश्न उठाया जा सकता है । ऐसी ही कुछ स्थिति आगमन की भी है आगमन को सामान्यतः तर्कसंगत सिद्ध किया जा सकता है । अथवा नहीं ? यह प्रश्न एक अन्य प्रश्न से सम्बन्धित है - "क्या सभी आगमनात्मक

निष्कर्ष हमेंशा पर्याप्त प्रमाणों पर आधारित होते हैं ? स्ट्रामन के अनुसार. इस प्रश्न का उत्तर सरल होते हुए भी महत्वपूर्ण नहीं है । इसका उत्तर यह है कि आगमनात्मक निष्कर्ष को प्रमाणित करने वाले प्रमाण कभी-कभी पर्याप्त होते हैं, तो कभी-कभी पर्याप्त नहीं होते हैं । स्ट्रामन का दावा है कि आगमन का प्रमार्णीकरण आगमनात्मक रूप से नहीं किया जा सकता है। यदि आगमन के प्रमार्णीकरण का आधार आगमन को माना जाय तो चक्रक दोष (Fallaacy of Pititio Principi) होगा। प्रश्न उठता है कि क्या आगमन का प्रमार्णीकरण निगमन के आधार पर किया जा सकता है । यदि आगमन का प्रमार्णीकरण निगमन के आधार पर किया जाय तो यह आगमन को निगमन बनाने का प्रयास होगा । किन्तु आगमन निगमन नहीं है । यही तो सम्सया की जटिलता है ।4

किन्तु अनेक तार्किक, ज्ञानमींमांसक और वैज्ञानिक यह मानने के लिए तैयार नहीं हैं कि आगमन की समस्या वास्तविक नहीं हैं । सैद्धान्तिक धरातल पर आगमन की समस्या को नकारना अपनी अक्षमता प्रकट करना है । आगमन की समस्या के दो रूप है -

(1) विशेष तथ्यों के आधार पर सामान्य नियमों की खोज ।

(2) विशेष तथ्यों से विशेष की ओर अग्रसर होना ।

मिल का कहना था कि विशेष से 'विशेष की ओर अग्रसर होना', विशेष से सामान्य की ओर अग्रसर होने की अपेक्षा अधिक मौलिक होता है। किन्तु आगमन की ये दोनों समस्याएं तर्कतः एक दूसरे से सम्बन्धित हैं। आगमन की समस्या का चाहे जो रूप हो; (विशेष से सामान्य अथवा विशेष से विशेष का अनुमान) ह्यूम की समस्या विशेष तथ्यों के आधार पर सामान्य सिद्धांतों की स्थापना करने से सम्बन्धित है । परम्परागत मान्यता अर्थात प्रकृति की एकरूपता आगमन का आधार है, का खण्डन करते हुए ह्यूम

4- **इन्ट्रोडक्शन टु लोजिकल थियरी, अध्याय 9.**

कहता है कि चूंकि प्रकृति की एकरूपतास्वयं आगमन पर आधारित है। इसलिए उसे आगमन का आधार नहीं कहा जा सकता है। आगमनात्मक प्रमाणीकरण और प्रकृति की एकरूपता अन्योन्याश्रित हैं। उन्हें एक दूसरे के द्वारा सिद्ध करने का प्रयास करने पर 'इतरेतराश्रय दोष' (Fallacy of Interdependence) होता है।

2. आगमन की समस्या के कुछ समाधान

1. अन्तः प्रज्ञावादी समाधान

संशयवादियों की आपत्तियों के प्रत्युत्तर में अनेक दार्शनिकों ने आगमनात्मक प्रमाणीकरण का समर्थन किया है। अन्तःप्रज्ञावादियों के अनुसार 'कुछ तथ्यात्मक उदाहरणों के निरीक्षण के आधार पर 'सबके बारे में (सामान्य नियम के बारे में) अनुमान कल्पना की छलांग से ही सम्भव है। इसे अगमनात्मक कुदान (Inductive leap) के नाम से जाना जाता है। इस आगमनात्मक कुदान का आधार अन्तःप्रज्ञा (Intuition) है। एच. एच. जोखिम ने इसे बौद्धिक अन्तःप्रज्ञा कहा है।

(2) विशेषवादी समाधान

वर्कलें के दर्शन से प्रभावित **भाववादियों** के अनुसार आगमन का कार्य विशेष से सामान्य का अनुमान करना नहीं हैं। चूकिं आगमन अनुभव अथवा निरीक्षण पर आधारित है, इसलिए अनुभव के द्वारा हमें केवल विशेषों का ही ज्ञान प्राप्त हो सकता है। इससे स्पष्ट है कि हम आगमन में विशेष से विशेष का ज्ञान प्राप्त करते हैं, अर्थात सामान्यीकरण कोई समस्या नहीं हैं। हमारा समस्त ज्ञान विशेष की ओर प्रवर्तित होता है।

(3) प्रायिकतावादी समाधान

कुछ दार्शनिकों के अनुसार विशेष उदाहरणों के द्वारा किसी सार्वभौमिक नियम की स्थापना निर्णायक रूप से (Conclusively) भले ही न की जा सके, किन्तु किसी नियत संयोग की अनेक वादि पुनरावृत्तिके

आधार पर भविष्य की घटना के विषय में हम प्रायिक (Probable) निर्णय ले सकते हैं । किसी सामान्य नियम की स्थापना प्रायिक रूप से की जा सकती है । ह्यूम के अनुसार ये प्रायिक निर्णय इस मान्यता पर निर्भर है कि भविष्य के तथाकथित दृष्टान्त भूतकालीन उदाहरणों के समान होंगे । यह मान्यता स्वयं एक आगमन है । प्रायिकता का सिद्धांत भी आगमन पर आधारित है । अतः उसके द्वारा भी आगमन की व्याख्या नहीं की जा सकती है ।

एयर के अनुसार प्रायिकता की प्रागनुभविक सिद्धांत भी आगमन की समस्या को हल करने के लिए अनावश्यक प्रयास है । यह सिद्धांत संयोगों अथवा आकस्मिकताओं का गणितीय आकलन (Mathematical Calculus of Chances) है । पूर्णतया औपचारिक आकलन से किसी वास्तविक तथ्य अथवा घटना को निष्कर्ष के रूप में प्राप्त करना सम्भव नहीं है । आकारिक (गणितीय) आकलन को अनुभविक आधार वाक्यों के संयोजन के रूप में प्रयुक्त किया जा सकता है । किन्तु इससे भी समस्या का समाधान नहीं हो पाता है । यहां पर आनुभविक आधार वाक्यों के प्रमाणीकरण की समस्या के कारणहम पुनः उसी कठिनाई में उलझ जाते हैं ।[5]

ह्यूम और उसके अनुयायियों के अनुसार अनुभव के आधार पर आगमनात्मक प्रमाणीकरण चक्रक दोष से ग्रस्त हो जाता है । किन्तु कुछ दार्शनिकों के अनुसार यद्यपि आगमनात्क प्रमाणीकरण में चक्रकता प्रतीत होती है, किन्तु यह दूषण नहीं है । उदाहरण के लिए, इस युक्ति को लिया जा सकता है : "चूंकि आगमनात्मक तक भूतकाल में हमेशा विश्वसनीय सिद्ध हुआ, इसलिये आगमनात्मक तर्क सामान्यतः विश्वसनीय है ।" यदि जिस तर्कवाक्य को युक्ति के आधारवाक्य के रूप में स्वीकार किया गया है, उसी तर्कवाक्य को युक्ति का निष्कर्ष मान लिया जाय तो चक्रक दोष होता है

5- **दि प्राब्लेम आव नॉलेज, एयर, पृ. 72–73.**

किन्तु इस युक्ति के लिए इसकी आवश्यकता नहीं है इस युक्ति मे चक्रक दोष को अपरिहार्य मानना इस गलत अवधारणा पर आधारित है युक्ति को निर्णायक बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके आधार वाक्यों में प्रासंगिक कथन को जोड़ दिया जाय । किन्तु इस युक्ति में चक्रम दोष को अपरिहार्य मानना इस गलत अवधारणा पर आधारित है: - युक्ति को निर्णायक (Conclusive) बनाने के लिए यह आवश्यक है कि उसके आधार वाक्यों में प्रासंगिक कथन को जोड़ा दिया जाय । किन्तु ऐसा करने पर चक्रक दोष से कैसे बचा जा सकता है ? इसका उत्तर यह है : **आगमनात्मक युक्ति को निर्णायक रूप से वैध मानने के लिए किसी कथन को आधारवाक्य में जोड़ने की आवश्यकता नहीं है । आगमनात्मक प्रमाणीकरण के लिए निगमनात्मक युक्ति के समान निर्णायक प्रामणिकता और वैधता की मांग करना आगमन के स्वरूप की गलत समझ पर आधारित है । यह आगमन का स्वभाव है कि उसकी वैधता निगमन के समान नहीं हो सकती है । आगमनात्मक प्रमाणीकरण के अन्तर्गत प्राप्त निष्कर्ष प्रायिक होते हैं । ह्यूम की यह एक भूल है कि वह आगमन के क्षेत्र में निगमन जैसी पूर्ण निश्चितता और वैधता की आशा करता है ।** जो दार्शनिक आगमन के क्षेत्र में निगमन जैसी वैधता और निर्णायक प्रामाणिकता की आशा करतें हैं, उनके हाथ निराशा ही लगेगी ।

रसेल के अनुसार प्रतिज्ञप्तियों की प्रायिकता कुछ प्रमाणों या प्रदत्त आंकड़ों के सापेक्ष रूप में ही निर्धारित की जा सकती है । किन्तु उसकी परवर्ती रचनाओं में इससे भिन्न विचार मिलते हैं । **'ह्यूमन नोलेज'** में वह प्रयिकता सम्बन्धि सिद्धांत के बारे में कहता है, **''यदि प्रायिकता को अपरिभाष्य माना जाय तो हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि अप्रायिक घटनाएं घटित हो सकती हैं, और इसलिए प्रायीक प्रतिज्ञप्ति प्राकृतिक**

घटनाओं के बारे में कुछ नहीं कहती है । यदि इस मत को स्वीकार किया जाय तो आगमनात्मक अनुमान के वैध होने पर भी उसे असत्य कहा जा सकता है । चूंकि अपायिक घटनाएं घटित हो सकती हैं इसलिए जो अप्रायिक हो, उसे असंभव नहीं कहा जा सकता है ।" इसके परिणामस्वरूप एक ऐसा जगत् जिसके अन्तर्गत आगमन सत्य हो और एक ऐसा जगत जिसके अन्तर्गत आगमनात्मक अनुमान असत्य हों, को अनुभव के द्वारा एक दूसरें से पृथक नहीं किया जा सकता हैं । इससे सिद्ध होता है कि आगमनात्मक सिद्धान्त के पक्ष अथवा विरोध में कोई प्रमाण नहीं हो सकता है, और इसके द्वारा भविष्य की घटनाओं से सम्बन्धित अनुमान करने मे सहायता नहीं मिल सकती है । आगमन अपने प्रयोजन में तभी सफल हो सकता है, जब प्रायिकता की व्याख्या आवृत्ति (Frequency) के रूप में की जाय ।"[6] **'दर्शन की समस्या'** में रसेल की मान्यता यह थी कि आगमनात्मक सिद्धांत अनुभव के द्वारा समर्थित या खण्डित नहीं किये जा सकते हैं । किन्तु इसे स्वीकार कर लेने पर आगमन का प्रयोग भविष्य की घटनाओं के विषय में अनुमान करने के लिए नहीं किया जा सकता है।

वस्तुतः किसी कथन को प्रायिक कहने का अर्थ यह है कि उसे स्वीकार करना अथवा उसमें विश्वास करना न्यायाचित है, भले ही वह कथन असत्य हो जाय । दूसरे शब्दों में, कोई कथन न्यायोचित होने पर भी असत्य हो सकता है । अप्रायिक घटनाएं असंभव नहीं हैं, तथापि जो प्रायिक (न्यायसंगत) है उसमें विश्वास करने के अतिरिक्त एक बुद्धिजीवी के पास कोई अन्य विकल्प नहीं हो सकता हैं । अप्रायिक घटनाओं के संभव होने पर भी उसमें विश्वास करने का कोई तार्किक औचित्य नहीं है । यह हमारे व्यावहारिक जीवन के लिए उपयोगी भी नहीं

6- ह्यूमन नॉलेज : इट्स स्कोप एन्ड लिमिटस, पृ. 420

है । किसी कथन को प्रायिक कहने का अर्थ यह है कि उसमें विश्वास करना तर्कसंगत है । रसेल के प्रायिकता सिद्धान्त की व्याख्या इससे भिन्न रूप में नहीं की जा सकती है । हमारे अनेक आपातिक निर्णय तर्कसंगत होते हैं और इसलिए हम उनमें विश्वास करते हैं । उदाहरण के लिए धूम्रपान और फेफड़े के कैन्सर का आंकड़ा यह दिखाता है कि धूम्रपान करने वाले व्यक्तियों के फेफड़े को कैन्सर होने की प्रायिकता धूम्रपान न करने वाले लोगों की अपेक्षा अधिक होती है । भले ही एक आपातिक सत्य हो, किन्तु प्रायिकता के आधार पर विश्वसनीय है । इससे सिद्ध होता है कि किसी आगमनात्मक विश्वास का औचित्य तार्किक हेतुओं के आधार पर ही सिद्ध किया जा सकता है ।

(4) प्राक्कल्पनामूलक निगमनात्मक पद्धति

(Hypothetico-Deductive Method)

वैज्ञानिक अनुमान मुख्य रूप से प्राक्कल्पना-मूलक निगमनात्मक पद्धति पर आधारित होता है । इसके अन्तर्गत विशेष-विशेष तथ्यों के निरीक्षण के आधार पर सामान्य नियमों की रचना नहीं की जाती है । इस पद्धति में किसी विचारणीय घटना के सम्भावित कारण की कल्पना कर ली जाती है । उसके आधार पर निगमनात्मक पद्धति से निष्कर्ष निगमित करके निरीक्षण और प्रयोग से उसकी जांच की जाती है । इस प्रकार प्राक्कल्पनाओं से परिणामों का तार्किक निगमन करके प्रयोगात्क विधि से सम्वन्धित सिद्धांतों का सत्यापन किया जाता है । वास्तव में किसी सिद्धांत के अन्तर्गत आने वाले समस्त उदाहरणों (तत्वों) का निरीक्षण करना सम्भव नहीं होता है । इससे स्पष्ट है कि हम गणनामूलक आगमन के द्वारा किसी सिद्धांत के विषय में सभी तथ्यों का सत्यापन नहीं कर सकते हैं । सिद्धांततः सामान्य नियम अनिरीक्षणीय हैं । अतः सर्वाधिक सरल विधि यह है कि हम सामान्य नियमों के निरीक्षण करने योग्य परिणामों का सत्यापन करें । इससे हम इस

निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वैज्ञानिक सिद्धांतो के सत्यापन की विधि यह है कि क्या उनके निरीक्षणीय परिणाम सत्य है ? **वैज्ञानिक सिद्धान्तों के सत्यापन की इस प्रणाली को 'प्राक्कल्पनामूलक निगमनात्मक पद्धति' कहा जाता है** । इस पद्धति में 'कल्पना' (Imagination) और 'अन्तर्दृष्टि या सहज बोध'(Intuition) का आश्रय लिया जाता है । इस अवस्था में हम कोई कल्पना अथवा पूर्वानुमान कर सकते हैं । किन्तु एक बार कोई कल्पना कर लेने पर तर्कतः उससे निगमित निष्कर्षो को भी स्वीकार करना चाहिए । इस विधि में कल्पना, बुद्धि और अनुभव समन्वित रूप में एक दूसरे के पूरक होते हैं ।

आगमन के प्रमाणीकरण को देखते हुए कुछ विज्ञान दार्शनिक **मिथ्याकरणसिद्धांत (Falsifiability Principle)** में विश्वास करते हैं । इस सम्बन्ध में **कार्ल आर.पापर** का नाम उल्लेखनीय है । उसके अनुसार वैज्ञानिक सिद्धांतों का असत्यापन निरीक्षण के द्वारा हो सकता है, यद्यपि उनकों प्रमाणित करना अत्यन्त कठिन होता है । उदारण के लिए, चाहे जितने कौओं (Ravens) का परीक्षण किया जाय, सत्यापन प्रक्रिया के द्वारा 'सब कौएं काले हैं' इस कथन (प्राक्कल्पना) का प्रमाणीकरण नहीं हो सकता है इसके विपरीत यदि एक भी कौआ सफेद मिल जाय तो हम 'सब कौए काले हैं । इसे आसानी से असत्य सिद्ध कर सकते हैं । उसके अनुसार वैज्ञानिक नियम निरपेक्ष रूप से सत्यापनीय नहीं हैं, चाहे वे कितने ही परीक्षणों से सफलतापूर्वक गुजरें हो । उसमे मिथ्याकरण सिद्धांत को वैज्ञानिक खोज का प्रमाणांक (Hall mark) कहा है ।[7] उसके अनुसार हमारा ज्ञान प्राक्कल्पना बनाने, उसके असफल हो जाने पर पुनः उसका परित्याग करके अन्य प्राक्कल्पना की रचना करने से विकसित होता है । हमारे अधिकांश

7- **दि लॉजिक आव साइन्टिफिक डिसकवरी, अध्याय चार** ।

ज्ञान की प्रक्रिया प्रयत्न और भूल (Trial and error) की विधि से संचालित होती है ।

एयर के अनुसार इन दार्शनिकों के लिए प्राक्कल्पना की योग्यता ही महत्वपूर्ण है, न कि उनके विश्वसनीय होने का तरीका । यदि परिणाम प्राक्कल्पना के पक्ष में हो तो उसे स्वीकार कर लिया जाता है, यदि नहीं, तो या तो प्राक्कल्पना का परित्याग कर दिया जाता है अथवा उसमे संशोधन किया जाता है । **एयर के अनुसार यदि इसे यथार्थ वैज्ञानिक पद्धति माना जाय तो भी आगमन की समस्या का निराकरण नहीं किया जा सकता है । उसने मिथ्याकरण सिद्धान्त को एक ऐसी बचकाना रोग (Infantile disease) कहा है, जिसकी पकड़ में स्वस्थ अर्थात प्रामाणिक और सबल वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं के भी आने की सम्भावना बनी रहती है ।**[8]

बहुत से सूक्ष्म तत्वों का इन्द्रिय प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है, किन्तु वे निरीक्षणीय होते हैं । प्राक्कल्पनामूलक-निगमनात्मक पद्धति से बिना उनकी पुष्टि हुए भी उनके विषय में जानकारी प्राप्त की जा सकती है । उदाहरण के लिए, पृथ्वी का पिघला हुआ बीजकोष (Molten Core) नहीं देखा जा सकता है किन्तु हम उसके बारे में पर्याप्त जानकारी प्राप्त कर लेते हैं । इसके लिए हम गणनामूलक आगमन अथवा व्याख्यात्मक आगमन का प्रयोग करते हैं। यह कहा जा सकता है कि विभिन्न प्रकार के सूक्ष्म-दर्शी यन्त्रों की सहायता से सूक्ष्म तत्वों का निराकरण किया जा सकता है यहां पर हमें प्रत्यक्ष (Perception) और निरीक्षण (Observation) में अन्तर करना चाहिए । यह सत्य है कि इन्द्रियों के द्वारा प्रत्याक्ष न होने योग्य कुछ तत्व प्रकाशीय सूक्ष्मदर्शी, इलेक्ट्रानिक सूक्ष्मदर्शी इत्यादि यन्त्रों की सहायता से निरीक्षणीय हो सकते हैं । किन्तु इन यंत्रों के द्वारा निरीक्षण करने की भी

8- **प्राब्लेम आव नॉलेज**, पृ. 73—74.

एक सीमा है । उन तत्वों के बारे में क्या कहा जा सकता है, जो इन यन्त्रों की निरीक्षण-शक्ति और परिधि से परे होते हैं । पुनश्च, इन यन्त्रों के द्वारा किया गया निरीक्षण भी आपातिक होता है । इस आधार पर कहा जा सकता है कि निरीक्षणीय और अनिरीक्षणीय तत्वों के बीच में स्पष्ट रूप से कोई तार्किक भेद नहीं किया जा सकता है । निरीक्षणीय और अनिरीक्षणीय तत्वों का यह द्विविभाजन (Dichotomy) असंगत है । कुछ आलोचकों के अनुसार प्राक्कल्पना मूलक निगमनात्मक पद्धति एक दार्शनिक-गल्प (Philosopher's Fiction) है ।[9] जिस प्रकार विभिन्न कथनों के सत्यापन के लिए गणनामूलक अथवा व्याख्यात्मक आगमन का आश्रय लिया जाता है, उसी प्रकार वैज्ञानिक प्राक्कल्पनाओं का भी सत्यापन किया जाता है । अतः यह स्वीकार करने के लिए कि वैज्ञानिक तर्क प्रक्रिया के लिए गणना मूलक आगमन से भिन्न आगमन की आवश्यकता है, कोई तर्क संगत आधार नहीं है ।

रसेल के अनुसार 'प्राक्कल्पनामूलक निगमनात्मक पद्धति' हेतुफलाश्रित कथनों के उत्तरांग को स्वीकार करने की दोषी है । उदाहरण के लिए, इस प्राक्कल्पना, 'सुअरों के पंख होते हैं', का संयोजन एक ज्ञात तथ्य से किया जा सकता है - 'सुअर खाने में स्वादिष्ट होते हैं ।' इससे सिद्ध होता है कि कुछ 'पंखधारी प्राणी खाने में स्वादिष्ट होते हैं' । इसका अभिनिश्चय होता है । हम प्राक्कल्पनामूलक निगमन पद्धति के द्वारा प्राक्कल्पना 'सुअरों के पंख होते हैं', का सत्यापन कर सकते हैं । इसे मानक आकार में व्यक्त करने पर उत्तरांक की स्वीकृति का दोष स्पष्ट हो जाता है -

यदि सुअरों के पंख होते हैं और सुअर खाने में स्वादिष्ट होतें हैं तो कुछ पंखधारी प्राणी खाने में स्वादिष्ट होते हैं ।

कुछ पंखधारी प्राणी खानें में स्वादिष्ट होते हैं ।

9- **नॉलेज एन्ड जस्टिफिकेशन, पृ. 246.**

इसलिए सुअरों के पंख होतें हैं और सुअर खाने में स्वादिष्ट होते हैं।

इस युक्ति के अन्तर्गत शेषवत् अनुमान दोषपूर्ण है क्योंकि आधार वाक्य में उत्तरांग की स्वीकृति है। यह कहा जा सकता है कि यह पद्धति (Hypothetieo Deductive Method) केवल प्राक्कल्पनाओं की प्रायिकता को स्थापित करती हैं, न कि उनकी निर्णायक प्रामाणिकता को। **राइखनबख** के अनुसार यह सोचा भी नहीं जा सकता है कि सुअरों के पंख होने की प्रायिकता है, अर्थात कभी-कभी इस पद्धति के द्वारा प्राक्कल्पनाओं की प्रायिकता भी संदिग्ध हो जाती है।[10]

रसेल के अनुसार प्राक्कल्पनामूलक निगमन पद्धति मूलतः गणनामूलक आगमन से भिन्न नहीं हैं। किसी वैज्ञानिक प्राक्कल्पना की सत्यता को स्वीकार करने में कम से कम उसके सभी निरीक्षणीय परिणामों की स्वीकृति समाहित होती है। प्राक्कल्पना में निरीक्षणीय परिणामों से अधिक तथ्य सम्मिलित हो सकते हैं, किन्तु उससे कम नहीं। प्राक्कल्पनामूलक निगमनात्मक परीक्षण प्राक्कल्पना के तार्किक परिणामों में से एक (परिणाम) की सत्यता की जांच मात्र है। इससे सिद्ध होता है कि यह पद्धति गणनामूलक आगमन से अधिक प्रामाणिक नहीं हैं। विपरीततः यह गणनामूलक आगमन पर आश्रित है।[11] ऐतिहासिक दृष्टि से यह अनिश्चित है कि यह पद्धति किसी सीमा तक वास्तविक वैज्ञानिक प्रक्रियाओं का निरूपण करती है। अतः प्राक्कल्पनामूलक-निगमनात्मक पद्धति आगमन की

10- **बट्रेंड रसेल फिलासोफी, (जार्ज नरवनिकेन द्वारा संपादित) में 'रसेल आन साइन्टिफिक इनफरेन्स, पृ.** 193.

11- **ह्यूमन नॉलेज, पृ.** 417.

समस्या का समाधान करने अथवा उसका विकल्प प्रस्तुत करने में सक्षम नहीं है ।[12]

(5) अर्थक्रियावादी समाधान

इस सिद्धान्त के समर्थक सी.एस.पियर्स, राइखनवख इत्यादि दार्शनिक हैं । राइखनवख के अनुसार वैज्ञानिक सिद्धान्तों की सत्यता का निर्धारण आगमन के द्वारा होता है । यदि इसका विज्ञान के क्षेत्र से वहिष्कार कर दिया जाय तो विज्ञान अपने सिद्धान्तों की सत्यता अथवा असत्यता को निश्चित करने की शक्ति से वंचित हो जायगा । आगमन के अभाव में वैज्ञानिक सिद्धान्तों को कवि के मन की कल्पनाओं और स्वेच्छाचारी (यादृच्छिक) रचनाओं से पृथक, नहीं किया जा सकता है। **अतीतकालीन घटनाओं के अनुभवों के आधार पर भविष्य में प्रकृति की एकरूपता को जानने को हमारे पास कोई पर्याप्त प्रमाण नहीं है । किन्तु यदि यह दिखाया जा सके कि व्यावहारिक जीवन में सफलता प्राप्त करने के लिए आगमन आवश्यक है तो आगमन का औचित्य सिद्ध हो जाता है। आगमन का सिद्धान्त स्पष्ट रूप से सम्पूर्ण विज्ञान के द्वारा स्वीकृत है ।** अपने दैनिक जीवन में भी कोई व्यक्ति इस सिद्धान्त पर गम्भीरतापूर्वक सन्देह नहीं कर सकता है। इस सन्दर्भ में एक रोगी का उदाहरण देना रोचक होगा । एक गम्भीर रोग के शिकार रोगी से डाक्टर कहता है यद्यपि रोग का एकमात्र उपचार शल्यक्रिया (आपरेशन) ही है, तथापि डाक्टर यह नहीं जानता है कि रोगी वच जायेगा । ऐसी स्थित में रोगी की शल्य-क्रिया का औचित्य सिद्ध हो जाता है, चाहे शल्य-क्रिया के परिणाम को जाना जा सके अथवा नहीं । इसी तरह यदि यह दिखाया जा

12- राइखनबख द्वारा दिये गये इस उदाहरण को हास्पर्स ने उद्धृत किया है देखिये 'दार्शनिक विश्लेषण–परिचय, पृ. 383.

सके कि आगमनात्मक अनुमान व्यावहारिक जीवन में सफलता प्राप्त करने की आवश्यक शर्त है, तो उसका औचित्य सिद्ध हो जाता है ।

(6) आगमन का विश्लेषणत्मक प्रमाणीकरण[13]

यह समाधान भाषा दार्शनिकों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है । उनके अनुसार यह कथन कि निरीक्षण प्रमाण की रचना करता है, सत्य है क्योंकि इसकी सत्यता 'प्रमाण' पद के अर्थ पर निर्भर है । ''किसी ग्रह का निरीक्षित परिक्रमा-पथ (Orbit) उसके भविष्य के परिक्रमा-पथ के लिए प्रमाण है'' इस पर सन्देह करना यह सिद्ध करता है कि संदेह करने वाला व्यक्ति 'प्रमाण' शब्द का अर्थ सही-सही नहीं जानता है । उसकी प्रमाण विषयक अवधारणा भ्रामक है । अतः हमारे अतीतकालीन निरीक्षण अनिरीक्षित भविष्य की घटनाओं के लिए प्रमाण है । उनके असफल अथवा असत्य होने की सम्भावना व्यक्त करना काल्पनिक संशय मात्र है। संक्षेप में, यह दावा करना- 'निरीक्षित भूतकाल (अनिरीक्षित) भविष्यकाल के लिए प्रमाण है', यह एक विश्लेषणात्मक कथन है । इसकी सत्यता इस कथन में प्रयुक्त शब्दों (प्रतीकों) के अर्थ पर निर्भर है । अतः इस सिद्धान्त को 'आगमन का विश्लेषणात्मक प्रमाणीकरण' कहा जा सकता है।

किन्तु कुछ दार्शनिक (जैसे-क्वाइन) परम्परागत विश्लेषणीयता के संप्रत्यय का खण्डन करते हैं । वे परम्परागत रूप से मान्य विश्लेषणात्मक और संश्लेषणात्मक के अन्तर को नहीं मानते हैं । इस विश्लेषणात्मक प्रमाणीकरण के विरूद्ध भी आपत्तियां है । किसी चीज (जैसे निरीक्षण) को प्रमाण कहने का अर्थ है -- एक विश्वसनीय मार्गदर्शक के रूप में उसका निरूपण और मूल्यांकन करना इत्यादि । साधारण परिस्थितियों में हम

13- इस शिर्षक (Analytic Justification of Induction) के लिए लेखक जे. डैन्सी का ऋणी है । देखिये इन्ट्रोडक्शन टु कन्टेम्पोरेरी एपिस्टिमोलॉजी, पृ 204.

'प्रमाण' शब्द के अर्थ अथवा उससे सम्बन्धित अपनी समझ पर संशय नहीं करते हैं। हम अनेक प्रकार की वस्तुओं और साधनों अथवा तर्कों को प्रमाण के रूप में स्वीकार कर सकते हैं। ऐसी स्थिति में हम यह शंका और आश्चर्य व्यक्त कर सकते हैं कि कोई वस्तु किसी अन्य वस्तु के लिए 'प्रमाण' कैसे हो सकती है ? ह्यूम की समस्या को इस परिप्रेक्ष्य में देखने पर विश्लेषणात्मक प्रमाणीकरण सफल नहीं हो पाता है। अनुभव के द्वारा हमें ऐसा कोई हेतु अथवा प्रमाण कैसे मिल सकता है जो निरीक्षित (भूतकाल) और अनिरीक्षित (भविष्य) के बीच की खाई (अन्तराल) को समाप्त कर दे ? कुछ परिस्थितियों में निरीक्षण को उपयुक्त प्रमाण माना जा सकता है। किन्तु 'निरीक्षण उपयुक्त प्रमाण है', इसका निर्धारण 'प्रमाण' शब्द के अर्थ के द्वारा नहीं हो सकता है, बल्कि जिस तर्कवाक्य के लिए उसे (निरीक्षण) प्रमाण समझा जाता है, उस तर्कवाक्य (प्रतिज्ञप्ति) के सन्दर्भ में ही उसकी प्रामाणिकता का निर्धारण होता है।

(7) नेल्सन गुडमैन की समस्या

ह्यूम के अनुसार निरीक्षण पर आधारित नियमित संयोगों से लोगों में आशा करने की आदत उत्पन्न हो जाती है। आगमनात्मक अनुमान को निरीक्षित घटनाओं की समानता के आधार पर परिभाषित करने का प्रयास किया जाता है, अर्थात भविष्य भूतकाल और वर्तमान के समान होगा। गुडमैन के अनुसार इस समानता के आधार पर अनुमान करने में ऐसी मान्यता (Assumption) निहित है, जिसका प्रमाणीकरण कठिन है। इस सम्बन्ध में गुडमैन का हरिनील-विरोधाभास (Grue-Paradox) उल्लेखनीय है।**14**

14- हरिनील हरे और नीले रंग का सम्मिश्रण है जिसे गुडमैन ने एक विधेय के रूप में प्रयुक्त किया है।

मानलीजिये कि अब तक देखे गये सभी मरकत (Emeralds) हरे हैं, यह सिद्ध हो चुका है । आगमन के आधार पर कहा जा सकता है - 'अगला मरकत हरा होगा' और 'अपेक्षाकृत' कम प्रायिकता के साथ कहा जा सकता है - 'सब मरकत हरित हैं ।' गुडमैन एक अन्य विधेय चुनता है, जिसे वह 'हरिनील' (Grue) नाम देता है । इसे निम्नलिखित रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है -

'कोई वस्तु समय 'स' पर 'हरिनील' होगी, यदि और केवल यदि यह हरित हो 'स' 1 जनवरी 2000 ई० के पहले के लिये प्रयुक्त होता है ।' अथवा यह भी कहा जा सकता है - कोई वस्तु समय 'स' में हरिनील होगी यदि और केवल यदि वह नीली हो और 'स' 1 जनवरी 2000 ई० के बाद के समय के लिए प्रयुक्त होता हो । इसके आधार पर कहा जा सकता है कि हमारा समस्त प्रमाण 'सब मरकत हरे होगें' के साथ-साथ 'सब मरकत नीले होगें' पर भी समान रूप से लागू होता है । इस प्रकार भविष्य के सभी मरकतों के बारे में 'वे हरे हैं' और 'स' (अमुक समय) के बाद वे नीले होगें, दोनों प्रमाणित होता है । इससे सिद्ध होता है कि भूतकाल में नियमित रूप से देखी गयी समानताओं के आधार पर आगमन को प्रमाणित नहीं किया जा सकता है ।, हमें यह स्वीकार करना पड़ेगा कि मरकतों से सम्बन्धित दोनों अनुमानों में से एक वैध और दूसरा अवैध होगा । किसी एक अनुमान को दूसरे की अपेक्षा प्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है । हमारे पास ऐसा कोई साधन नहीं है जिसके आधार पर हम ठीक-ठीक आगमनात्मक प्रमाणीकरण की अवधारणा कर सकें ।

नेलसन गुडमैन के विरोध में यह कहा जा सकता है कि 'हरिनील' (Grue) जैसे विधेय का प्रयोग संदेहास्पद है । किन्तु गुडमैन की समस्या यह है : यह बताना कठिन है कि इस विधेय के प्रयोग में क्या दोष है? केवल यह कह देना पर्याप्त नहीं है कि ये 'हरिनील' इत्यादि विधेय कृत्रिम

(Artificial) अथवा नकली हैं । यह दिखाना आवश्यक है कि हमें उनका प्रयोग क्यों नही करना चाहिए ? उन्हें (विधेयों) कृत्रिम कहने मे केवल यह सिद्ध होता है कि हम उनका प्रयोग नही करते हैं । किन्तु इससे यह नहीं प्रमाणित हो सकता है कि हमें उनका प्रयोग नहीं करना चाहिये।

यदि इन विधेयों को अविश्वसनीय माना भी जाय तो यह नहीं कहा जा सकता है कि इन विधेयों में ऐसी कौन सी कमी है जिसके कारण उनसे सम्बन्धित अनुमान अविश्वसनीय हो जाता है । यह सत्य है कि 'सब मरकत हरित हैं, में विधेय के रूप में 'हरित' शब्द का प्रयोग किया गया है, न कि 'हरिनील' शब्द का, किन्तु समस्या यह है - 'इसका क्या आधार है कि हम हरी वस्तुओं को सहसा नीली कहना नहीं शुरू करेगें (1 जनवरी 2000 ई० के बाद) अथवा नीली वस्तुओं को सहसा हरी कहना नहीं प्रारम्भ करेगें ?'

कुछ विचारकों के अनुसार आगमनात्मक अनुमान का मार्गदर्शक सिद्धान्त यह है कि अनेक प्रतियौगी व्याख्याओं में से सर्वोत्तम व्याख्या (The best explanation) ही हमारें विश्वास के लिए उपयुक्त प्रमाण है।[15] इसके समर्थकों में स्टेस, हरमन, ब्लानशार्ड इत्यादि का नाम उल्लेखनीय है । ह्यूम की समस्या के सन्दर्भ में भविष्य सम्बन्धी विश्वासों का प्रमाणीकरण कैसे किया जाय ? इसे एक उदाहरण की सहायता से स्पष्ट करना सुविधाजनक होगा-- ईट से प्रहार करने पर शीशे की खिड़की (अथवा खिड़की का शीशा) टूट जायेगी । हमारा यह स्वाभाविक विश्वास आगमनात्मक है । ह्यूम की दृष्टि से विचार किया जाय तो दोनों घटनाओं में कोई तार्किक अनिवार्यता (Logical necessity) नहीं है । एक घटना के होने पर दूसरी का न होना आत्मव्याघाती नही है । ए०सी० इविंग और ब्लान्शार्ड ने तार्किक अनिवार्यता के स्थान पर प्राकृतिक अनिवार्यता

15- **"Inference to the best Competing explanations", Induction, Harman, G. (in Swain 1970) P. 83-99.**

(Natural necessity) पर बल दिया है । प्राकृतिक अनिवार्यता के अभाव में किसी घटना की व्याख्या नहीं की जा सकती है। वे इसे व्याख्या के लिए एक मूल आवश्यकता मानते है । किसी घटना की व्याख्या करने में हम देखते हैं कि यह घटना अमुक परिस्थिति में क्यों घटित होती है ? 'ईंट से प्रहार करने पर खिड़की के शीशे का न टूटना' यह व्याख्या साधारण परिस्थतियों में अच्छी नहीं समझी जा सकती। इसके विपरीत ईंट से प्रहार करने पर खिड़की का शीश टूट जायेगा, यह व्याख्या अपेक्षाकृत अच्छी प्रतीत होती है । यह कहा जा सकता है कि चूँकि दोनो घटनाओं में कोई आन्तरिक अथवा अनिवार्य सम्बन्ध नहीं है, इसलिए ह्यूम के अतिरिक्त अन्य व्याख्या सम्भव नही हो सकती । इसका उत्तर सुसंगतिवादी दृष्टि से इस प्रकार होगा - यदि घटनाओं की व्याख्या सम्भव है तो इससे सिद्ध होता है कि उनमें किसी न किसी प्रकार का अनिवार्य सम्वन्ध अवश्य होगा। किन्तु यह तार्किक अनिवार्यता नहीं, बल्कि प्राकृतिक अनिवार्यता हो सकती है।

नेल्सन गुडमैन के द्वारा दिये गये उदाहरण में 'हरिनील' (Grue) विधेय का प्रयोग यह सिद्ध करने का प्रयास है कि 1 जनवरी 2000 ई० के वाद मरकत हरे नहीं होगें, वल्कि नीले होगें । यहां पर दो प्राक्कल्पनाएं है -

(१) सब मरकत हरे हैं ।

(२) सब मरकत नीले हैं ।

ये दोनों परस्पर प्रतियोगी प्रकलपनाएं हैं । चूँकि वे एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा रखती हैं, इसलिए एक की अपेक्षा दूसरी का वरण करना किसी के द्वारा प्रमाणित नहीं होता है । इससे स्पष्ट है कि इस विश्वास के लिए कोई प्रमाण नहीं है कि मरकत नीले होने की अपेक्षा हरित होगें । यहां पर हमारे विश्वासों में ऐसा कोई आन्तरिक लक्षण नहीं हैं, जो कई परस्पर

प्रतियोगी विश्वासों में से किसी एक को प्रमाणित कर सके । इस समवन्ध में केवल एक उपयुक्त पहलू यह है कि हमारे लिए वही विश्वास उपयुक्त है, जिसके अनुरूप हम व्यवहार करते हैं, अन्य विश्वास नहीं ।

वस्तुतः आगमन हमारे जीवन का एक सर्वव्यापी रूप है, जिसके अधार पर तार्किक व्यवहार सम्भव होता है । आगमन से सम्वन्धित प्रश्नों को वस्तुओं (तथ्यों) की एक वयवस्था के अन्तर्गत ही पूछा और स्थापित किया जा सकता है । अतः उनका प्रमाणीकरण भी उस व्यवस्था से वाहर नहीं हो सकता है । व्यवहारिक जीवन में सफलता के लिए प्रमाणीकरण आवश्यकता है । प्रकृति की एक रुपता में विश्वास करके यदि हम प्रकृति के रहस्यों को खोजनें का प्रयत्न करें तो सम्भव है कि कुछ प्राकृतिक नियमों की जानकारी प्राप्त हो जाय । किन्तु इसे एक प्रागपेक्षा के रूप में ही स्वीकार किया जा सकता है । यहां एयर का यह कथन उल्लेखनीय है- ''वह प्रमाण जो सैद्धान्तिक दृष्टि से ठीक है, कार्य नहीं करेगा और वह प्रमाण जो कार्य करता है, सिद्धान्तः ठीक नहीं है ।''[16] हमें इसका ज्ञान भले ही न हो कि भविष्य में प्रकृति के नियम भूतकाल के समान होगें, किन्तु उसमें विना विश्वास किए हमारा व्यवहारिक जीवन सम्भव नहीं है । इसमे विश्वास करके ही हम जीवन में अनेक सफलता प्राप्त करते हैं, भविष्य वाणियां की जा सकती हैं और ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में अनेक सफल अनुसंधान सम्भव है, अर्थात् आगमन में विश्वास करना मानव के लिए प्राकृतिक रूप से अनिवार्य है । हमारी बुद्धि जिसे तर्कसंगत समझती है, प्रायः हम तदनुसार आचरण करते हैं क्योंकि वह अतार्किक व्यवहार की अपेक्षा अधिक प्रायिक (Probable) है । दूसरे शब्दों में, **हमारे तार्किक व्यवहार का आधार प्रायिकता का सिद्धान्त है** । ह्यूम ने जिस रूप में आगमन की समस्या को प्रस्तुत किया है, उसका कोई तार्किक हल तर्कसंगत

16- 'A prllf which is formally Correct will not do the work and a proof which does the work will not be formally Correct.' (**दि प्राब्लेम आव नोलेज, पृ. 75**).

नहीं लगता है । जिन लोगों ने समस्या का समाधान किया भी है, वे मूल समस्या के स्वरूप को रूपान्तरित कर देते हैं । हाँ, यह अवश्य है कि मनुष्य के दैनिक जीवन में आगमन की समस्या विशेष जटिल नहीं है । हम प्रतिदिन अनेक आगमनात्मक प्रमाणीकरण और अनुमान करते रहते हैं । वस्तुतः आगमन का प्रमाणीकरण उसके विशेष नियमों के संदर्भ में ही सार्थक (प्रासंगिक) है । इन विशेष नियमों की प्रमाणिकता कुछ तार्किक हेतुओं पर आधारित होती है । ये तार्किक हेतु (Logical Reasons) इन विशेष नियमों के सत्य होने को प्रायिकता प्रदान करते हैं ।

उपसंहार

उपसंहार

मानव-जाति के बौद्धिक इतिहास के प्रारंभ से ही सिद्धान्त-रचना दार्शनिकों तथा वैज्ञानिकों का मुख्य लक्ष्य रहा है । जिस समय विज्ञान के साधन उपलब्ध नहीं थे उस समय चिन्तनशील व्यक्ति दार्शनिक चिंतन में ही रुचि रखते थे । भारतीय दार्शनिक वैदिक काल में ही दार्शनिक चिन्तन के चरम शिखर पर थे । प्राचीन काल के यूनानी दार्शनिक वैदिक ऋषियों की तरह परम तत्व के विषय में ज्ञान प्राप्त करने का दावा नहीं करते सुकरात ने कहा था कि उन्हें परम तत्व के विषय में ज्ञान तो नहीं है, किन्तु ज्ञान से प्रेम अवश्य है । समय तर्कबुद्धि पर ही बल दिया । मानवीय बौद्धिक इतिहास की उस अवस्था में अभी विज्ञान की उत्पत्ति नहीं हुई थी । विज्ञान प्रसुप्त अवस्था में दर्शन में ही विद्यमान था, किन्तु इसके बाद नवीन साधनों के उपलब्ध होने पर वैज्ञानिक गवेषणा प्रारंभ हुई । समकालीन दर्शन की नींव विज्ञान के आधार पर बनी है ।

पाश्चात्य देशों के लगभग सभी दार्शनिक इस बात पर सहमत हैं कि तत्वमीमांसा निरर्थक है, क्योंकि इसके किसी भी प्रत्यय को वैज्ञानिक विधि के प्रयोग द्वारा सत्यापित नहीं किया जा सकता । अतः उन्होंने इस बात पर बल दिया कि तत्वमीमांसा के प्रत्ययों पर विचार करना अर्थहीन है । आज अधिकतर पाश्चात्य दार्शनिक तत्वमीमांसा को त्याग चुके हैं ।

तार्किक भाववादी आंदोलन बीसवीं शताब्दी के दार्शनिक चिंतन में ऐतिहासिक महत्व रखता है । यद्यपि तार्किक भाववादी अर्थ के सत्यापन सिद्धांत के आधार पर तत्वमीमांसा का निरसन करते हैं तथा किसी न किसी रूप में तत्वमीमांसीय समस्याओं का विवेचन करते हैं । तार्किक भाववादी ज्ञान मीमांसा की उपेक्षा न कर सके । वे 'सत्य' को भी 'अर्थ-सिद्धान्त' के अन्तर्गत समाहित करने का प्रयास करते हैं । इस प्रकार भाषा से परे किसी अलौकिक अतीन्द्रिय एवं मूल्यपरक ज्ञान की तात्विक सत्ता से इन्कार करते हैं। वे नैतिक कथनों की मूल्यमीमांसीय व्याख्या न करके, मूल्यपरक कथनों को संवेगात्मक अर्थ में ग्रहण करते हैं ।

इस विवेचन से स्पष्ट है कि, (एयर के अनुसार सत्य एवं विश्वास के साथ-साथ निश्चित होने का अधिकार रखना (Right to be sure) भी ज्ञान के लिए एक आवश्यक शर्त है) ए.जे. एयर ने ज्ञान की तीन शर्तों का उल्लेख किया है । यद्यपि इन शर्तों में साक्ष्य का उल्लेख नहीं मिलता फिर भी उसकी तीसरी शर्त, 'निश्चित होने का अधिकार रखना', बिना किसी साक्ष्य के एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा मात्र है । वस्तुतः कुछ साक्ष्यों के आधार पर ही निश्चित होने का अधिकार रखना युक्ति संगत प्रतीत होता है । प्लेटो के युग से आज तक 'ज्ञान' की परिभाषा के संबध में 'साक्ष्य' का स्वरूप एक जटिल समस्या रहा है । 'ज्ञान' की सत्यता, वैद्यता

एवं प्रमाणिकता के लिए कितना 'साक्ष्य' पर्याप्त होगा इसका निर्धारण करना ज्ञानमीमांसकों के लिए कठिन रहा है ।

इस प्रकार अन्यमनस के ज्ञान एवं नैतिक मूल्यों के ज्ञान से संबंधित समस्याएं भी विचारणीय रही हैं । तार्किक भाववादी इसका जो समाधान प्रस्तुत करते हैं उसको निर्णायक नहीं माना जा सकता है, किन्तु उनके इस मत से असहमत होना संभव नहीं है कि मानव ज्ञान की अभिव्यक्ति सदैव भाषा के द्वारा ही संभव है । यद्यपि भाषा को दर्शन का विषय-वस्तु नहीं माना जा सकता है तथापि बिना भाषा के ज्ञान के स्वरूप का स्पष्टीकरण असंभव है । अतः वाक्यों का विश्लेषण स्पष्टता के लिए आवश्यक है, किन्तु विडम्बना यह है कि ए.जे. एयर एवं उनके परम्परा के दार्शनिक विश्लेषण को ही दर्शन का 'साध्य' मानते हैं । विश्लेषण, दार्शनिक दृष्टि से कितना ही उपयोगी क्यों न हो परन्तु न तो भाषा को ज्ञान की अन्तर्वस्तु माना जा सकता है और न तो बर्ट्रेण्ड रसेल ने तार्किक भाववादियों के मंतव्य को स्पष्ट करते हुए कहा है कि जो भी ज्ञान प्राप्त किया जाय उसे अवश्य ही वैज्ञानिक पद्धति से प्राप्त करना चाहिए । जो ज्ञान विज्ञान की खोज से परे है उसे मनुष्य नहीं जान सकता, किन्तु ए.जे. एयर ने इसके अंतर्गत नैतिक मूल्यों के ज्ञान को सम्मिलित नहीं किया है । उनके अनुसार नैतिक कथन संज्ञानात्मक नहीं होते है, वे केवल संवेगात्मक हैं ।

वस्तुतः ज्ञान के विभिन्न स्तर हो सकते है इनमें से ज्ञान को एक स्तर तक सीमित कर देने से एकांतिक विशिष्टता का दोष होगा । इन सीमाओं के होते हुए भी तार्किक भाववादियों ने विज्ञान को ज्ञान का प्रतिमान मान करके मानव चिंतन को तार्किक एवं वैज्ञानिक दृष्टि से ओत-प्रोत करने का प्रयास किया है ।

'ज्ञान' के विभिन्न उदाहरणों में सर्वगत लक्षणों की खोज करके ज्ञान को परिभाषित करना न तो संभव है, न ही आवश्यक है । विश्लेषण को दर्शन का साध्य । विश्लेषण, दर्शन का साधन एवं ज्ञान का वाहन अवश्य है।

ज्ञान के स्वरूप के संवध में विभिन्न पाश्चात्य विचारकों ने जिन शर्तो का उल्लेख किया है उन शर्तों को अनिवार्य भले ही कहा जाय तथापि वे पर्याप्त नहीं हैं । वस्तुतः 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों एवं संदर्भों में किया गया है । इनमें से ऐकांतिक रूप से किसी एक संदर्भ और प्रयोग तक ज्ञान को सीमित नहीं किया जा सकता है । कुछ दार्शनिकों ने इसका प्रयोग अत्यन्त व्यापक अर्थ में किया है तो कुछ दार्शनिकों ने इसका प्रयोग अत्यन्त संकीर्ण अर्थ में किया है । अपने व्यापक अर्थ में ज्ञान, प्रमाणिक या न्यायोचित विश्वासों को भी समाहित कर लेता है । इसके अन्तर्गत वैज्ञानिक विश्वास, सामाजिक विश्वास, अन्य मनस का ज्ञान से लेकर

गणितीय एवं तार्किक सत्य भी सम्मिलित हो जाते हैं। किन्तु ए.जे. एयर के दर्शन में ज्ञान के वैज्ञानिक स्वरूप को अपनाया गया है।

अन्त में, विटगेन्सटाइन के अनुयायियों का यह मत युक्तिसंगत लगता है कि ज्ञान के विभिन्न उदाहरणों में केवल भाषिक समरूपता पायी जाती है। इसके प्रयोगों में इतनी अधिक विविधता है कि 'ज्ञान' के किसी निश्चित एवं स्थायी अर्थ को स्वीकार नहीं किया जा सकता है। विभिन्न संदर्भों में ज्ञान पद का प्रयोग अलग-अलग अर्थों में किया है किन्तु यह निश्चित है कि ज्ञान को सत्य से अलग नहीं किया जा सकता है, परन्तु इसका निहितार्थ यह नहीं है कि ज्ञान और सत्य परस्पर भिन्न हैं। हम 'गेटियर की समस्या' के परिप्रेक्ष्य में यह देख चुके हैं कि सत्य विश्वास को भी ज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

वस्तुतः 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग नितांत पारिभाषिक एवं तकनीकी अर्थ में प्रयुक्त करना उपयोगी नहीं है। जो दार्शनिक 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक एवं तकनीकी अर्थ में करते हैं, वे इसे अति संकीर्ण बना देते हैं। 'ज्ञान' बहुआयामी है, सत्य, विश्वास, प्रमाणीकरण, अर्थ बोध आदि विवध संदर्भों में 'ज्ञान', 'संज्ञा' एवं 'जानना' क्रिया के अर्थ में प्रयोग किया जाता है।

अतः 'ज्ञान' केवल एक अन्तर्वस्तु नहीं बल्कि अंतर्वस्तुओं को सूचित करने वाले एक परिवार का द्योतक है। यह मनुष्य की बौद्धिक चेतना का सारतत्व और बुद्धि का सहज लक्षण है।

सहायक ग्रन्थ सूची

सहायक ग्रन्थसूची

1 Ayer. A.J., *Language, Truth and Logic*. Gollancz. London, (2nd edn.) 1946.

2. Ayer, A.J., *Foundations of Empirical Knowledge*. Macmillan, London. 1940.

3 Ayer, A.J., *Philosophical Essays*, Macmillan. London. 1965.

4. Ayer, A.J., *The Central Questions of Philosophy*, Macmillan Company of India, New Delhi, 1979.

5. Ayer, A.J., *The Problem of Knowleage*, Penguin Books, 1956.

6. Barrett Williams, *(Ed.) Philosophy in the Twentieth Century* (Vol. III) New York University Press, 1962.

7. Bhattacharya Shiba Jiban, *Doubt, Belief and Knowledege*, Indian Council of Philosophical Research, Allied Publishers.

8. Black, Max. *A Companion to Wittgenstein's Tractatus*, Cambridge. 1964.

9. Bradley. F.H.. *Essays on Truth and Reality*, Oxford, 1914.

10. Chatterjee, S.C., *The Problems of Philosophy*, University of Calcutta, 1946 (2nd edn).

11. Chisolm, R.M., *Theory of Knowledge*, Prentice Hall, New Delhi, 1977.

12. Dancy. Jonathan, *An Introduction to Contemporary Epistemology*, Basil Blackwell : New York, 1985.

13. Dwivedi. D.N.. *Astudy of Wittgenstein's Philosophy.* Darshana Peeth, Allahabad, 1977.

14. Edwad. Paul (ed.), *Encyclopedia of Philosophy*, Vol. I. II. Macmillan Company : New York, 1967.

15. Evans. J.L.. *Knowledge and Infalliobility*. Macmillan : London. 1978.

16 Griffith. A. Phillips (ed.), *Knowledge and Belief*. Oxford University Press, 1967.

17. Hamlyn, D.W., *Theory of Knowledge*. Macmillan : London, 1972.

18. Harries, Errol, E., *Fundamentals of Philosophy*. Allen and Unwin : London, 1969.

19. Haspers, John, *Introduction to Philosophical Analysis*, Prentice Hall, 1967.

20. Moore.G.E., *Philososphical Papers*, Allen and Unwin : New York, 1959.

21. Pandey. R.C...and Bhatt, S.R. (eds), *Knowledge, Culture and Value*, (World philosophy Conference, India), Motilal Banarsidas : Delhi, 1976.

22. Pandey, S.L. (ed). *Problems of Comparative Philosophy*,Darsan Peeth, Allahabad, 1988.

23. Pandey, S.L. (ed)., *Problems of Depth Epistemology*, R.N. Kaul Library of Philosophy, University of Allahabad. 1987.

24. Pandey, S.L. *Whither Indian Philosophy*, Darsan Peeth, Allahabad, 1978.

25 Pollock. John, L.. *Knowledge and Justification*. Princeton University Press. New Jersey. 1974.

26. Popper. Karl. R., *Objective Knowledge : an evolutionary approach*. Oxford, 1972.

27. Popper, Karl. R., *The Logic of scientific Discovery*. Hutchinson : New York. 1959 (I edn.).

28. Russell. B.. *Human Knowledge : its Scope and Limits*, Allen and Unwin : London. 1948.

29. Russell, B.. *The Analysis of Mind*, Allen and Unwin. Londan, 1921.

30. Russell, B., *The Problems of Philosophy*, London, 1912.

31. Schilleer, F.C.S., Logic for Use : *An Introduction to Voluntarist Theory of Knowledge*, AMS Press : New York, 1976 (reprint of 1929).

32. Schilpp, P.A. (ed), *The Philosophgy of G.E. Moore*, North Western University, Evanston and Chicago, 1942.

33. Shoemaker, Sydney, *Self-knowledge and Self-Identity* (Cornell University) Allied Publishers, New Delhi 1971. (First Indian Reprint).

34. Tillman, Frank A, Berosky B.& Conor, D.J.O. , *Introductory Philosophy* : New York, 1971.

35. Warnock. G.J., *English Philosophy Since 1900*, Oxford University Press, 1958.

36. Wittgenstein, Ludwig, *On Certainty (ed) Anscombe*. G.E....M. and Wright. G.H. Von, Harper Row : New York, 1972

37. दयाकृष्ण, *ज्ञानमीमांसा*, राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1972

38. पाण्डेय,संगमलाल, *आधुनिक दर्शन की भूमिका* (द्वितीय संस्करण) दर्शनपीठ इलाहाबाद, 1973.

39 पाण्डेय,संगमलाल, *काण्ट का दर्शन*, दर्शनपीठ, इलाहाबाद, 1982.

40. सिन्हा, अजीत कुमार, हरियाणा साहित्य अकादमी, (द्वितीय संस्करण) 1991, चण्डीगढ़ ।

41. सक्सेना, लक्ष्मी, उत्तर प्रदेश हिन्दी संस्थान, (तृतीय संस्करण) 1982. लखनऊ ।

42. उपाध्याय, हरिशंकर, *ज्ञान मीमांसा के मूल प्रश्न* (चतुर्थ संस्करण) पेनमैन पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1995.

43. *कल्याण*, गीताप्रेस, गोरखपुर ।

44. *दार्शनिक* त्रैमासिक ।

45. *संदर्शन*, उत्तर प्रदेश दर्शन परिषद की वार्षिक पत्रिका ।

46. पासमोर, जॉन, *दर्शन के सौ वर्ष* अनुवादक चाँदमल शर्मा, कलानाथ शास्त्री, हिन्दी प्रकाशन विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, 1986.

47. पैट्रिक, जार्ज टामस ह्वाइट *दर्शन शास्त्र का परिचय* अनु० उमेश्वर प्रसाद मालवीय, हरियाणा ग्रंथ अकादमी, चण्डीगढ़, 1973.

48. श्रीवास्तव, जगदीश सहाय, *आधुनिक दर्शन का वैज्ञानिक इतिहास* पुस्तक संस्थान गोरखपुर, 1973.

JOURNALS CONSULTED

1. Indian Philosophical Quarterly - Indian Institute of Philosophy. Amalner.
2. M I N D -------------
3. The Philosophical Review - A quarterly Journal, Published by Cornall. University.
4. Proceedings of the Aristotelian society.
5. Proceedings of British Academy.
6. International Journal of Ethics.
7 Journal of the Indian Academy of Philosophy.
8. Uttar Bharti - A Journal of Research of the Universities of Uttar Prabesh.
9. Review of Philosophy and Religion. - A Quarterly Journal.
10. Indian Philosophical Quarterly, Vol. IX, No.2, (New Series) Poona (January, 1982).
11. International Philosophical Quarterly, Vol. XXV. No.4 (December, 1985).
12. Proceedings of Aristotelian Society, (New Series) Vol. 53. (London. 1955).
13. Review of Darshna. Vol. No. 3-4, (R.N. Kaul Librarary of Philosophy, University of Allahabad, Allahabad. 1984).